प्रकाशक—
अवध पब्लिशिंग हाउस
पानदरीबा, लखनऊ

प्रथम संस्करण
मूल्य—तीन रुपया आठ आना

मुद्रक—
नव-ज्योति प्रेस,
पानदरीबा, लखनऊ

सम्पादकीय वक्तव्य

'मकरन्द' स्व० डॉ० बड़थ्वाल के गवेषणापूर्ण लेखों, आलोचनात्मक विचारों तथा भावात्मक संस्मरणों का संग्रह है। उनके पुराने कागज-पत्रों के बीच जो भी प्रकाशित, मुद्रित, अप्रकाशित अथवा अर्धपूर्ण सामग्री श्री दौलतराम जुयाल एवं श्री नत्थीप्रसाद जुगड़ाण के द्वारा प्राप्त हुई उसे सम्पादित कर इस रूप में प्रस्तुत करने का मुझे सुयोग प्राप्त हुआ और इस प्रकार यह कृति हिन्दी संसार के सामने आ सकी है। इसमें छोटे-बड़े मिलाकर तेईस लेख हैं जिनको किसी विशेष तारतम्य से नहीं सजाया जा सका है ; वरन्, जैसे ही वे प्राप्त होते गये वैसे देखकर प्रेस में पहुँचाया गया है। इसी कारण गोरखनाथ के साथ चौरंगीनाथ पर लिखित लेख नहीं आ सका और न 'संतों का सहज ज्ञान' के साथ 'हिन्दी काव्य की निरंजन धारा'। इस पुस्तक तथा अन्तिम लेख का नाम मुझे ही देना पड़ा ; क्योंकि इसका कहीं कोई भी निर्देशन उनके लेखों में प्राप्त नहीं हो सका।

संग्रह में विविध विषयों पर लेख हैं जिनके क्षेत्र बड़े व्यापक हैं। वर्ण-विशेष के उच्चारण, बोली से भाषा के विकास और कतिपय साहित्यिक व्यक्तियों के संस्मरणों से लेकर, सिद्धों और नाथों की रचना और प्रभाव तथा निरंजनी कवियों के विवरण के प्रसंग तक इसमें सम्मिलित हैं। अतः समय और विषय-भूमि दोनों के क्षेत्रों का विस्तार बड़ा ही व्यापक है। साथ-ही-साथ आकार की दृष्टि से भी तीन-चार पृष्ठों के निबन्धों से लेकर दस-बारह पृष्ठों के निबन्ध तक इसमें संगृहीत हैं अतः इस दृष्टि से भी वैविध्य में कोई कमी नहीं।

डा० बड़थ्वाल की लेखनी में शक्ति, प्रवाह और सरलता तीनों का ही संयोजन रहता है जो इनके अधिकांश निबन्धों में दिखलायी देता है और जो उनके विषय के स्पष्ट ग्रहण, निर्भीक कथन एवं सबल सप्रमाण अभिव्यक्ति का प्रमाण है।

डा० बड़थ्वाल का अध्ययन बड़ा ही विस्तृत था। इसी से वे 'ज्ञ' के

हिन्दी उच्चारण और 'मेल्णों' की जीवन-कथा जैसे निबन्धों में संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी साहित्य के सुन्दर और पुष्ट उदाहरण प्रचुर मात्रा में दे सके हैं। 'हमारी कला और शिक्षा' जैसे भाषण में भी उनके विस्तृत ज्ञान, उदात्त भावना एवं उच्च आदर्श का पता चलता है। वे साहित्य और संस्कृति की प्रगति में विश्वास रखनेवाले व्यक्ति थे। जीवन में भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति और समृद्धि-संग्रह ही सब कुछ नहीं, वरन् आत्मिक विकास, जिससे व्यापक मानवता की एकता का आभास होता है, जीवन का चरम ध्येय है, ऐसी उनकी आस्था थी। वे साहित्यिक तपस्वी थे और उनमें सूक्ष्म विवेचन-शक्ति थी।

डा० बड़थ्वाल के संग्रहालय में बहुमूल्य एवं दुष्प्राप्य हस्तलिपियों के संग्रह थे जिन के आधार पर ही उन्होंने चौरंगीनाथ निरंजनधारा, आदि लेखों को लिखा है। वे साहित्य के यथार्थ अन्वेषक और गवेषक थे। और यही अन्वेषण और गवेषणा उनके जीवन की प्रमुख प्रेरणा रही।

अपने समय में उठे हुए साहित्यिक विवादों और समस्याओं पर भी वे तुरन्त प्रकाश डालते थे और ऐसे लेखों में, जिनमें कि कोई उन पर व्यक्तिगत आक्षेप कर बैठता था, उनकी लेखनी बड़ी ही तीक्ष्ण और सव्यंग्य हो जाती थी। उसकी चुटीली और मर्मस्पर्शी भाषा का आघात बड़ा ही गहरा होता है। इस संग्रह के 'मूल गोसाईं चरित' और 'ज्ञ का हिन्दी उच्चारण' नामक लेखों में हमें उनकी यही शैली देखने को मिलती है। और केशवदास पर लिखे निबन्ध में भी कहीं-कहीं वही प्रवृत्ति है। इससे स्पष्ट प्रगट होता है कि उनका भाषा पर कितना सराहनीय अधिकार था।

डा० बड़थ्वाल के बहुत अधिक महत्वपूर्ण लेख वे हैं जो कि हिन्दी साहित्य अथवा उसके इतिहास की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हैं। ऐसे लेख हमें वास्तविक मूल्यांकन की दृष्टि प्रदान करते हैं। किसी भी कवि या लेखक की रचनाओं की आधारभूत और परंपरा से आयी संस्कारगत सामग्री को जान लेने पर हम यह भ्रम नहीं कर सकते कि उसकी मौलिकता उसकी अपनी है जबकि उन बातों की परंपरा पहले ही से मिलती है। कबीर आदि निर्गुण धारा के कवियों का यथार्थ अध्ययन और उनके पूर्व चलती हुई इसी प्रकार की धारा का संकेत करने के लिए ही उन्होंने सिद्धों, नाथों आदि की रचनाओं की छान-बीन की थी। उनके इस संग्रह के लेखों में से कई लेख इसी प्रकार हिन्दी साहित्य की आधार-भूमि का संकेत करते हैं। 'बोली से साहित्यिक भाषा' शीर्षक उनका लेख तो खड़ी बोली के विकास का संक्षिप्त

इतिहास प्रस्तुत करता है। नाथ पंथ में योग, उत्तराखंड के मंत्रों में गोरख-नाथ, संतों का सहज ज्ञान, चौरंगीनाथ आदि, निर्गुणी संत कवियों की पूर्ववर्ती पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हैं साथ ही साथ निरंजन धारा, निर्गुण धारा के समक्ष समानान्तर संत-साधना की धारा को स्पष्ट करती है। ये अनेक क्षेत्र अभी तक हिन्दी के इतिहासकारों के द्वारा प्रायः पूर्ण परिचित नहीं हैं। अतः इतिहास-निर्माण में ऐसे लेखों का बड़ा महत्व है।

इसके साथ ही साथ कुछ तुलनात्मक अध्ययन भी डा० बड़थ्वाल जी के बड़े रोचक हैं। ये अध्ययन उनकी यथार्थवादी सूक्ष्म दृष्टि को तो स्पष्ट करते ही हैं, उनके अपने व्यापक आदर्श एवं सत्य-संबन्धी कुछ अन्तर्व्याप्त नियमों पर आस्था भी प्रगट करते हैं, जिनका जानना निजी अनुभव का काम है। इनके आधार पर बना उनका दृष्टिकोण अपनी अलग विशेषता रखता है।

इनके अतिरिक्त कुछ लेख इनके साहित्यकार या साहित्यसेवी व्यक्तियों को लेकर लिखे गये हैं जिनमें उनके कृतित्व का वास्तविक महत्त्व स्पष्ट किया गया है। इसी कोटि के अन्तर्गत साहित्यकारों के कुछ संस्मरण भी हैं जिनके द्वारा इन्होंने अपनी भावुकता और उनके व्यक्तित्व के विश्लेषण का प्रयत्न किया है।

यह संक्षेप में उनके निबन्धों के प्रकारों और महत्त्व का परिचय हुआ। इनमें अधिक निबन्ध हैं जो उस समय लिखे गये जब हमारे बीच आज की परिस्थितियाँ नहीं थीं। न तब भारतवर्ष स्वतन्त्र ही हुआ था और न हिन्दी भाषा ही को यह मान-महत्व प्राप्त हुआ था। साथ ही साथ उनके समय से आजतक हिन्दी के अन्तर्गत शोध और खोज-कार्य भी इतना हुआ है कि उनकी धारणाएँ और मान्यताएँ यदि कुछ पुरानी जँचने लगें तो हमें आश्चर्य न होना चाहिए। इस बात का ध्यान रखते हुए भी यह कहा जा सकता है कि डा० बड़थ्वाल के कथनों में सच्चाई का इतना बल था कि वे आज भी उतने पुराने नहीं पड़े जितने अन्य उनके समकालीन विद्वानों के कथन पड़ गये हैं।

डा० बड़थ्वाल विकासवाद के पक्षपाती थे, परिष्कारवाद के उतने नहीं। वे संतों के सहज धर्म के अवलंबी थे और उनका विश्वास था कि जनजिह्वा से मँजकर, ढलकर जो शब्द हमारे बीच आते हैं उनका अधिक महत्व है। वे सजीव हैं, प्रचलित हैं और टकसाली हैं। वे एक पत्थर के मूल्य को विशाल पर्वत शिला से संबंधित करके आँकने में उतने प्रसन्न न होते थे जितने वे उसके नर्मदा या गंडकी में प्राप्त घिसे-घिसाये रूप को जनसमुदाय-द्वारा प्रतिष्ठित और पूजित देखे जाने में होते थे। वे सहज व्यवहार को सर्वोपरि स्थान देते

थे। और साहित्य एवं संस्कृति के सहजरूप को ही विकसित और प्रसारित करने के पक्षपाती थे।

डा० बड़थ्वाल के भीतर सत्य के प्रति दृढ़ आग्रह और असत्य के प्रति रोषावेश था। वे द्वेषाभिभूत होकर दोषारोपण को सहन नहीं कर सकते थे; क्योंकि उनका अपना निजी प्रयास सचाई की खोज ही था। इसमें वे सहयोग की अधिक और दोषदर्शन की कम आशा रखते थे। यही कारण है जिससे वे कभी-कभी अपने लेखों में क्षुब्ध से दीखते थे। इस प्रकार डा० बड़थ्वाल के रूप में एक साहित्यिक तपस्वी अपनी साधना कर रहा था। इन छोटे-छोटे अध्ययनों के आधार पर उनका कार्य समस्त हिन्दी साहित्य का भूमिशोधन कर उसका वास्तविक इतिहास-निर्माण करना था। आज भी हमारे लिए उनकी लगन, उनकी तपस्या, उनका आवेश और उनकी सेवा अनुकरणीय है।

भगीरथ मिश्र

विषय-सूची

बोली से साहित्यिक भाषा

भाषा फूलती-फलती तो है साहित्य में, पर अंकुरती है बोलचाल में। साधारण बोलचाल की बोली ही मँज-सुधर कर साहित्यिक भाषा बन जाती है। भाषा भाषण से बनती है। कोई भी भाषा चाहे उसका साहित्य कितना ही बढ़ा-चढ़ा क्यों न हो ऐसी नहीं जो मूल रूप में बोली न रही हो।

हिंदी भी किसी समय बोली ही रही होगी। कैसे वह धीरे धीरे साहित्यिक भाषा बन गई, इसकी कथा होगी तो मनोरंजक, पर हम उसे पूरी पूरी जान नहीं सकते। बोल-चाल की बातें इतनी साधारण समझी जाती हैं कि उनको सुरक्षित रखने की चिन्ता किसी को नहीं होती। इसलिए बोली का कोई लेखा नहीं हो पाता। और ज्यों ही बोलने का लेखा आरंभ होने लगता है त्यों ही उसका साहित्यिक रूप मिलने लगता है। हिंदी जब बोली ही थी तब क्या रूप था, यह ठीक ठीक जानना कठिन है। हां, यह भी कहा जा सकता है कि संभवतः ईसवी सन् ७७८ के पहले से वह बोली जाती रही है। इस सन् में दाक्षिण्याचार्य चिन्होद्योतन ने "कुवलयमाला कथा" लिखी। उसमें एक हाट का उल्लेख है जिसमें आये हुए देश देश के बनिये अपनी अपनी बोली में अपना अपना माल बेचने का यत्न करते हैं। लेखक सब बोलियों का जाननेवाला तो था नहीं, जिस बोली की जैसी भनक उसके कान में पड़ी होगी उसने वैसे ही उसे उस देश के बनिये के मुँह में रख दिया। मध्यदेश से आये हुए बनिये के मुँह से उसने 'तेरे मेरे आउ, कहलाया है। —'तेरे मेरे आउ' त्ति जम्पिरे मज्झे देसेय। 'तेरे मेरे आउ' गठा हुआ वाक्य नहीं है। हो सकता है कि ये शब्द भी लेखक के लिए ध्वनि मात्र हों। फिर भी इस ध्वनि में हिन्दी के दो सर्वनाम, 'तेरे' 'मेरे' और एक क्रियापद 'आउ' का साफ सुनाई देना इस बात का पता देता है कि उस समय भी मध्य देश में हिन्दी बोली जाती थी। मध्य देश की सीमा हिमालय से लेकर विंध्य तक और जयपुर से लेकर प्रयाग तक थी। यह आज भी हिन्दीभाषी प्रदेश है।

इससे पहले संस्कृत और प्राकृत से भिन्न देश भाषा का उल्लेख दूसरी-तीसरी शती के नाट्य-शास्त्र में, पांचवीं शती की बनी नारद-स्मृति में और सातवीं शती के हर्ष-चरित्र में हुआ। परंतु इन ग्रन्थों में देश भाषा का अर्थ अपभ्रंश है या हिन्दी यह कहना कठिन है।

नवीं दसवीं शती में जब धर्मप्रचारकों को नीचे से नीचे लोगों तक अपना संदेशा पहुँचाने की आवश्यकता का अनुभव हुआ तब उस समय की साहित्यिक भाषाओं पर देशी बोली ने प्रत्याघात करना शुरू किया और हिन्दी अपना सिर उठाने लगी। पश्चिम में जैन लोगों और पूरब में वज्रयानी सिद्धों की अपभ्रंश की रचनाओं में जहाँ-तहाँ हिन्दी की बोली झलकने लगी। कुछ उदाहरण लीजिये...

सरहपा—

जहँ मन पवन न संचरइ, रवि शशि नाह प्रवेश।
तहि वट चित्त विसाम करु, सरहे कहिम उवेश।।

लुईपा—

काआ तरुवर पंच विडाल, चंचल चीए पइठो काल।
दिठ करिअ महा सुह परिमाण, लुइ भणइ गुरु पुच्छिअ जाण।।

ये सिद्ध आठवीं-नवीं शताब्दी के माने जाते हैं। दसवीं से इधर के तो ये निश्चय ही नहीं हैं।

जैन पंडित देवसेन सूरि ने ई० ९९० के लगभग लिखा है:—

जो जिन सासण भासियउ, सो मइ कहियउ सारु।
जा पाले सइ भाउ करि, सो तरि पावइ पारु।।

११०० ई० के लगभग जिनदत्त सूरि ने 'जो' 'सो' सर्वनाम, थोड़ा घरि, बेट्टा-बेट्टी, खडुह, वाहिर, सयाणा, बुहारी आदि शब्दों, दीसहिं, लहइ, करइ-पड़इ चड़ावइ, पढ़हिं-गुणहिं आदि क्रियापदों का प्रयोग किया है। कुछ पदों के तो उसने ऐसे प्रयोग किये हैं जो शुद्ध देशी हैं, संस्कृत परम्परा से जिनका सम्बन्ध घटित ही नहीं किया जा सकता जैसे 'झगड़हिं'—तहवि न धम्मिय विहि विणु झगड़हिं। ११०० ई० के आसपास प्रयुक्त होनेवाले अपभ्रंश साहित्य में देशी शब्दों का प्रयोग इतना अधिक होने लगा कि हेमचन्द्र को 'देशी नाममाला' में उनको संग्रह करने की सूझी।

बारहवीं-तेरहवीं शती में तो बोली ने इतना ज़ोर पकड़ा कि उस समय के जैन ग्रन्थकारों की संस्कृत पर उसका प्रभाव पड़ने लगा। ये लोग सोचते

थे बोली में और लिखते थे संस्कृत में। इसलिए बोली के कुछ प्रयोग थोड़ा सा रूप बदल कर उनको संस्कृत में आ गये। जैसे न्योछावर के लिए न्युञ्छन्, छुआ के लिए छुप्तवान्, भेंटा के लिए भेटितः और धाड़ा मारने (डाका डालने) के लिए धाटी-प्रयात।

चौदहवीं शती के अंत के लगभग जब विद्यापति ने देखा कि साधारण जनता को देशी बोली ही मीठी लगती है तो उन्होंने अवहट्ठ में कीर्तिलता लिखी, जिसमें देशी बोली का बहुत प्रयोग हुआ—

देसिल बअना सब जन मिट्ठा। तें तैसन जम्पउ अवहट्ठा॥

यहां तक आते-आते तो जान पड़ता है कि हिंदी साहित्यिक भाषा हो चली थी। वह इतनी पुष्ट हो गई थी कि उसकी प्रशंसा करते हुए १३५० के लगभग अमीर खुसरो ने लिखा कि हिंदी में मिलावट नहीं खपती और उसका व्याकरण नियमबद्ध है। इसलिए वह अरबी की बराबरी की है। स्वयं अपनी हिंदी पर खुसरो को बड़ा नाज था।

ग्रंथों में लिखा मिलता है कि पूष्य कवि ने ७१५ में अलंकार शास्त्र को भाषा दोहरों में लिखा। ८७० के लगभग अब्दुल्ला ऐराकी ने क़ुरान का हिंदी में तर्जुमा किया, ६०० के लगभग मसऊद साद सलमा ने हिंदी का एक दीवान लिखा और १०१३ में कालिंजर के राजा नंद ने सुलतान महमूद की प्रशंसा में एक हिंदी शेर लिख कर भेजा। इन रचनाओं के कोई नमूने आज नहीं मिलते, इसलिए नहीं कह सकते कि जिसे हम हिंदी कहते हैं, उससे उनका क्या सम्बन्ध था। ११६० में रचे गये चंद के पृथ्वीराजरासो में भी इतनी मिलावट हो गई है कि उसके मूल रूप का पता लगाना कठिन हो गया है। परन्तु खुसरो के नाम से आज जो कविता मिलती है उसमें चाहे कितना ही परिवर्तन क्यों न हो गया हो निश्चय ही मूलरूप में वह वही भाषा थी जिसे हम आज हिंदी कहते हैं :—

श्याम बरन की एक है नारी। माथे ऊपर लागे प्यारी॥
या का अरथ जो कोई खोलै। कुत्ते की वह बोली बोलै॥

अब तो हिन्दी के भीतर व्रज, अवधी और खड़ी बोली के अलग अलग साहित्य हैं। परन्तु अनुमान होता है कि आरंभ में हिंदी का मध्य देश भर में एक सर्वग्राह्य रूप प्रचलित रहा होगा, जिस में खड़ी, व्रज आदि के रूप छिपे रहे होंगे। गोरख, जलंधर, चौरंगी, कणेरी आदि योगियों के नाम से जो 'बानी' मिलती है संभवतः उससे हम उस भाषा का कुछ अनुमान लगा सकते हैं।

गोरख—अदेखि देखिबा, देखि विचारिबा' अदिसिद्दि राखिबा चीया।
पाताल की गंगा ब्रह्माण्ड चढ़ाइबा, तहाँ विमल विमल जल पीया॥
चौरंगी—माली लौ भल माली लौ, सींचै सहज कियारी।
उनमनि कला एक पहुप निपाइलें, आवागमन निवारी॥
कणेरी—हस्यो कणेरी हरिख में, एकलड़ो आरम्न।
जुरा विछोहो जो मरण, मरण विछोह्या मन्न॥

जिस रूप में ये बानियाँ मिलती हैं, उस रूप में विद्वानों ने उन्हें १४वीं शती की रचना माना है, यद्यपि जिनके नाम से ये मिलती हैं वे निस्संदेह १४वीं शती से बहुत पूर्व के हैं।

१५वीं शती में कबीर की रचना में यही परम्परा चली आती है—

कबीर चाला जाई था, आगैं मिल्या खुदाइ।
मीराँ मुझसूं यूं कह्या किन फुरमाई गाइ॥

नामदेव, मीरा, रैदास आदि मध्यदेशी और बाहरी साधु-संतों में भी प्रायः भाषा का यही स्वरूप दिखाई देता है। किसी एक जगह से मोह न रखने वाले रमते साधुओं की वाणी में भाषा के सर्वग्राह्य स्वरूप का आना स्वाभाविक भी था :

किन्तु आगे चल कर साहित्य में हिन्दी की तीनों प्रधान बोलियों—ब्रज, अवधी, खड़ी—की अलग अलग धाराएँ दिखाई देती हैं। कृष्णभक्ति के अत्यंत प्रचार ने ब्रजभाषा को प्रधानता दी। सूरदास सोलहीं शती के आरंभ में ब्रज के सबसे बड़े कवि हुए। इन अंधे कवि के हृदय की आँखों ने जो आनन्द देखा उसने लोगों को आँखें खोल दीं। ब्रजभाषा में भक्ति का सोता बह चला। नन्ददास, परमानन्द, कुंभनदास, हितहरिवंश, हरिराम व्यास आदि कवियों की भक्तिरस में सनी मधुर वाणी ने उसे मिठास से भर दिया। रसखान आदि मुसलमान भक्तों ने भी उसमें योग दिया। मध्यप्रदेश में ही नहीं समस्त उत्तर भारत में उसका बोल बाला हो गया। बंगाल में चण्डीदास, गुजरात में नरसी मेहता और महाराष्ट्र में तुकाराम आदि सन्तों ने ब्रज-भाषा में कविता करके अपने आपको धन्य माना और वह एक प्रकार से उत्तर भारत की धार्मिक भाषा हो गई। फिर शृंगार काव्य ने उसमें नया रस डाला। केशव और चिंतामणि के काव्य से इसकी जो धारा छूटी वह मतिराम, बिहारी, देव, सेनापति, घनानंद, पद्माकर आदि के काव्य में १९ वीं शती तक बहती रही। इस प्रकार ब्रजभाषा का खूब शृंगार-अलंकार हुआ। भूषण ने उसमें वीर रस की पुट दी। ब्रजभाषा

का गद्य भी खूब विकसा। "चकत्ता की पातस्याही" आदि संक्षिप्त इतिहास ग्रन्थ, कथावार्ताएँ तथा अन्य धार्मिक साहित्य उसमें प्रस्तुत हुआ। ब्रज. यहां तक सर्वप्रिय हुई कि बंगाल में ब्रजबूली नाम से उसका एक अलग रूप चल पड़ा जो कृत्रिम होने पर भी उसका महत्त्व बतलाता है।

अवधी में अधिकतर प्रबन्ध काव्य ही अच्छे बने। इस प्रबन्ध साहित्य के बनाने में मुसलमानों का काफी हाथ रहा है। कुतबन की मृगावती (१५००) जायसी (१५५०) की पद्मावत, शेख नबी (१६२०) का ज्ञानदीप और नूरमुहम्मद (१७४४) की इंद्रावती आदि इसके प्रमाण हैं। परन्तु अवधी का सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ हुआ गोस्वामी तुलसीदास का 'रामचरित-मानस'—जो हिन्दी का भी सर्वोत्तम और सब से अधिक प्रिय ग्रन्थ है और संसार के गिने-चुने चोटी के ग्रन्थों में गिना जाता है। जीवन के उच्च आदर्श के साथ, भाषा की जो प्रांजलता, अर्थ की जो सूक्ष्मता, प्रयोगों का जो औचित्य और भावों का जो लालित्य इस ग्रन्थ में दिखाई दिया वह संसार के बहुत कम ग्रंथों में मिल सकता है।

खड़ी बोली का रूप प्राचीन अपभ्रंश की कविता में कुछ कुछ दिखाई दिया। किन्तु उसके सब से पहले कवि अमीर खुसरो माने जा सकते हैं। मुसलमानी अमलदारी के एक हजार वर्षों तक वह अधिकतर मुसलमानों के ही हाथों पली। हिन्दुओं में से केवल गंगा भाट ने अकबर के समय में "चन्द छंद बरनन की महिमा" गद्य में लिखी और शीतल ने १७२३ के लग-भग चटकीली कविता की। अमीर खुसरो की खड़ीबोली शुद्ध खड़ीबोली थी। पर फ़ारसी तबीयतदारी को देशी बोल-चाल में भरने की इच्छा ने रेखते को जन्म दिया। फ़ारसी भावों के साथ फ़ारसी भाषा का आना स्वाभाविक था। पर कुछ मुसलमान कवियों का यह प्रयत्न रहा कि रेखता शुद्ध देशी रूप में रहे। सन् १५८० के लगभग गोलकुण्डा के मुहम्मद कुली कुतुब शाह की कविता में यह बात कुछ कुछ दिखाई दी।

तुम बिन रहा न जावै। अन नीर कुछ न भावै॥
बिरहा किता सतावै। मन सेति मन मिला दो।

वली (१७२०) सौदा (१७४०) और नजीर (१८००) को भी इसमें कुछ सफलता मिली। इंशा अल्ला (१८००) ने तो प्रतिज्ञा करके 'रानी केतकी की कहानी' कही जिसमें 'हिंदी छुट किसी बोली की पुट' ही न थी।

यदि मध्य युग की धार्मिक परिस्थिति ब्रज के अनुकूल थी तो राजनीतिक परिस्थिति खड़ी बोली के प्रचार में सहायक हुई। मुसलमानों की विजय

खड़ी बोली की विजय सिद्ध हुई। वे जहाँ-जहाँ गये, उर्दू के रूप में उसे साथ लेते गये। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेजों के आने तक समस्त उत्तर भारत दक्खिन हैदराबाद तक में बोलचाल में उसका चलन हो गया। इसलिए समय के अनुकूल हिंदी वालों ने भी उन्नीसवीं शती के अंत में खड़ी ही को साहित्य के लिए भी अपना लिया। ब्रज और अवधी के साथ उन्हें साहित्यिक सर्वस्व छोड़ना पड़ा। खड़ी बोली में उस समय भारतीय वातावरण से बेमेल फारसी ढंग के प्रेम की कविता के अतिरिक्त कुछ न था। फिर भी रामचरित मानस और सूर-सागर का मोह त्याग कर उन्होंने खड़ीबोली को अपनाया और फिर से नवीन साहित्य का निर्माण किया। और इस बात की आशा हुई कि खड़ी बोली के सहारे हिंदू और मुसलमान दोनों हिंदी हो सकेंगे,

खड़ी बोली में बड़ी तेजी से साहित्य बना। अवधी और ब्रज दोनों ने उसकी अंग-पुष्टि की क्योंकि थोड़े से रूप-भेद से तीनों की शब्द—सम्पत्ति एक ही है। संस्कृत से भी उसे दाय में बहुत-कुछ मिला जो स्वाभाविक भी था। अरबी-फ़ारसी से भी उसने परहेज नहीं किया। आज हिंदी प्रत्येक भाषा से शब्द लेने के लिए तैयार है परन्तु उन्हें अपने व्याकरण और उच्चारण के ढंग पर ढाल कर।

आज हिंदी का साहित्य बहुत-कुछ उन्नत हो चला है। उसमें एक से एक रत्न भरे हैं। उसके कई अंग भर आये हैं। साहित्य की कोई बारीकियाँ ऐसी नहीं जिन्हें हिंदी अपने ढंग से व्यक्त न कर सके। फिर भी वह अपनी कमियों को जानती है। वैज्ञानिक और औद्योगिक साहित्य का अभाव उसे खटकता है। प्रगतिशील असन्तोष उसे कर्मण्य बनाये हुए है। उज्ज्वल भविष्य उसके सामने है। उसमें वह जीवनशक्ति है जिससे आवश्यकता के अनुरूप स्वयं ढलती-विकसती वह अपने आदर्श लक्ष्य की ओर बिना रुकावट चली जा रही है।[१]

---

[१]—२७ सितम्बर, १९३८ को लखनऊ रेडियो स्टेशन से दी गई वक्तृता।

नाथ-पंथ में योग

नाथ-पंथ शुद्ध साधना का मार्ग है। अपने सिद्धान्तों की सार्थकता उसमें यही मानी जाती है कि उनका इसी जीवन में अनुभव किया जाय। नाथ-पंथ का तात्त्विक सिद्धान्त है कि परमात्मा 'केवल' है, वह भाव और अभाव दोनों के परे हैं। उसे न 'वस्ती' (भाव) कह सकते हैं न 'शून्य' (अभाव); यहां तक कि उसका नाम भी नहीं रखा जा सकता—

वस्ती न शुन्यं सुन्यं न वस्ती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिखर महि बालक बोलहि वाका नांव धरहुगे कैसा॥
(गोरख सबद)

इसी केवलावस्था तक पहुँचना जीव का मोक्ष है। साधक की दृष्टि मे उतना महत्व सिद्धान्त का नहीं है जितना उस सिद्धान्त को अनुभूत-सिद्धि तक पहुँचाने वाले मार्ग का, जिसके बिना सिद्धान्त की कोई सार्थकता नहीं। आत्मा-परमात्मा का सिद्धान्त रूप से चाहे जो संबंध माना जाय, व्यावहारिक दृष्टि से व्यक्ति का मोक्ष उन दोनों का सम्मिलन, ऐक्य अथवा जोड़ ही कहलावेगा। इसी कारण केवल्यमोक्ष भी योग कहलाता है।* नाथ-पंथ इसी योगानुभूति तक पहुँचनेवाला 'पंथ' है। उसका एकमात्र ध्येय योग की युक्ति बताना है, जिसको जाने बिना जीव पिंजरे में सुए की तरह पराधीन है-

सप्त धातु का काया प्यंजरा ता माहि 'जुगति' बिन सूवा।
सत गुरु मिलै त उबरै बाबू नहि तौ परलै हूवा।
(गोरख)

इस 'गति' में स्वभावतः प्रथम दृष्टि काया की ओर जाती है, क्योंकि यही जीव की पराधीनता का प्रत्यक्ष कारण है। काया की विनश्वरता ही

*—मूलत: केवल्यानुभूति ही योग कहलाती है, किन्तु लक्षणा से अनुभूति तक पहुँचानेवाले साधन भी योग कहलाते हैं। जन साधारण में योग का यही लाक्षणिक प्रयोग रूढ़ हो गया है।—लेखक

करते चले आ रहे हैं जिससे एक विलक्षण सूक्ष्म शरीर विज्ञान का निर्माण हुआ है और शरीर में नौ नाड़ी, चौसठ संधि, षट चक्र, षोडशाधार, दश वायु, कुंडलिनी आदि महत्वपूर्ण तत्वों का पता लगा है। इस छोटे से लेख में इस विज्ञान के विस्तार को स्थान नहीं। सार रूप में इतना ही कहना अलम होगा कि उसके अनुसार सहस्रार में स्थित गगन-मंडल (ब्रह्म-रंध्र) में औंधे मुँह का अमृत कूप है (यही चन्द्र तत्व भी कहलाता है) जिसमें से निरंतर अमृत झरता रहता है। जो इस अमृत का उपयोग कर लेता है वह अजरामर हो जाता है। परन्तु युक्ति न जानने के कारण मनुष्य उसका उपयोग नहीं कर सकता और वह चन्द्रस्राव मूलाधार में स्थित सूर्य तत्व के द्वारा सोख लिया जाता है—

गगन मंडल में औंधा कुँवा तहाँ अमृत का वासा।
सगुरा होई सु भर भर पीया निगुरा जाई पियासा।

(गोरख)

ऐसा जान पड़ता है कि रेत इस सूक्ष्म तत्व का व्यक्त रूप है। ब्रह्मचर्य म स्थित होनेवाले के लिए विन्दु-रक्षा इतनी आवश्यक है कि विन्दु-रक्षा का नाम ही ब्रह्मचर्य पड़ गया है। शरीर की दृढ़ता के लिए भी रेतोधारण की बड़ी आवश्यकता है। यह तो स्पष्ट है कि विन्दु-नाश से शरीर के ऊपर काल का प्रभाव शीघ्र पड़ने लगता है और वह जराग्रस्त हो जाता है। नाथ योगियों ने भी विन्दु-रक्षा पर विशेष जोर दिया है—

व्यंदहि जोग, व्यंद ही भोग। व्यंदहि हरे जे चौसठि रोग।
या व्यंदका कोई जाणै भेव। सो आपै करता आपै देव।

सांसारिक भोग-लिप्सा हमारे नाश का कारण है। कामिनी के निकट पुरुष वैसे ही नष्ट हो जाता है जैसे नदी किनारे का पेड़। अपने योग-भ्रष्ट गुरु मत्स्येन्द्रनाथ को उद्दिष्ट कर गोरखनाथ ने कहा था—

गुरु जी ऐसा काम न कीजै। तायैं अमी महारस छीजै॥
नदी तीरे विरिखा, नारी संगे पुरखा,
अलप जीवन की आसा।
मन थैं उपजी मेर खिसि पड़ई,
ताथै कंद विनासा।
गोड़ भये डगमग, पेट भया ढीला,
सिर बगुला की पँखियाँ।
अमी महा रस बाघणि सोख्या।

इसी से विन्दुपात से योगी अत्यन्त दुखी होता है।

कंत गयां कवें कामिनी झूरे, विंद गयां कूँ जोगी।

जिस एक बूंद में नर-नारी पच मरते हैं उसी के द्वारा सिद्ध अपनी सिद्धि साधते हैं—

एक बूंद नर-नारी रीधा। ताहि में सिध साधिक सीधा॥

जो विन्दु रक्षा नहीं करता, वही योग की दृष्टि में सब से नीच है—

ज्ञान का छोटा, काछ का लोहड़ा।
इंद्री का लड़बड़ा, जिह्वा को फूहड़ा।
गोरख कहै ते पारितिख चूहड़ा।

अतएव योगी को शरीर और मन की चंचलता के कारण नीचे उतरने-वाले रेत को हमेशा ऊपर चढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिए। योगी को ऊर्ध्वरेता होने की आवश्यकता है। नाथ-पंथ में उर्ध्वरेता की बड़ी कठिन परीक्षा है—

भगि मुखि विन्दु, अगिनि मुखि पारा। जो राखै सो गुरू हमारा॥
बजरि करता अमरी राखे, अमरि करता नाई।
भोग करंता जे व्यंद राखे, ते गोरख का भाई॥

अमृत के आस्वादन के लिए योग ने कई युक्तियों का आविष्कार किया है। विपरीत-करणी-मुद्रा, जालन्धर-बंध, तालु-मूल में जिह्वा पलटना, कुंडलिनी-जागरण, सब इसी उद्देश्य से किये जाते हैं परन्तु श्वास-क्रिया का, विन्दु-स्थापन और अमृतोपभोग में विशेष महत्व है। मनुष्य का जीवन, श्वास-क्रिया के ऊपर अवलंबित है। जब तक सांस चलती रहती है तभी तक आदमी जीता है, प्राण रहते ही तक वह प्राणी है। श्वास-क्रिया का बन्द होना हमारे ऊपर काल की सब से बड़ी मार है।

वायू बंध्या सयल जग, वायू किनहूँ न बंध।
वाई विहूणा ढहि पड़ै, जोरै कोई न संध।

परन्तु यदि श्वास-क्रिया के बिना भी हम जीवित रह सकें तो कहना चाहिए कि काल की मार का हमारे ऊपर कोई असर नहीं है। इसी से योगी प्राण-विजय को उद्दिष्ट कर प्राणायाम करता है। पूर्ण प्राण-विजय 'केवल' कुंभक के द्वारा सिद्ध होती है। केवल कुंभक में श्वास क्रिया एकदम रोक दी जाती है। पूरक और रेचक की उसमें आवश्यकता नहीं रहती। इससे प्राण सुषुम्ना में समा जाता है—और सूर्य चन्द्र का योग संभव हो जाता है।

प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु मात्र नहीं, दशों वायु वश में आ जाते

परन्तु इसके लिए शरीर में वायु के आने-जाने के सब मार्ग बंद कर देना आवश्यक होता है। शरीर के रोम-रोम में नाड़ीमुखों का अन्त है। जिनके द्वारा शरीर में पवन आता जाता है इसी कारण कुछ योग-पंथों में भस्म धारण आवश्यक बताया गया है। किन्तु वायु के यातायात के प्रधान द्वार नौ हैं। इन नौ द्वारों को बंद रखना नाथ-पंथी भाषा में वायु-भक्षण के लिए अत्यंत आवश्यक है—

अवधू नव घाटी रोकिलै बाट। बाई बणिजै चौसठि हाट।
काया पलटै अविचल बिंध। छाया विवर जित निपजै सिधा।
सास उसास वायु कौं भछिवा, रोकि लेउ नव द्वोर।
छठै समासे काया पलटिवा। तव अनमनि जोग अपोर ॥

इस प्रकार जब वायु शरीर में व्याप्त हो जाता है तो बिन्दु स्थिर होकर अमृत का आस्वादन होता और अनाहत नाद सुनायी देने लगता है, तथा स्वयं-प्रकाश आत्म-ज्योति के दर्शन होने लगते हैं—

अवधू सहस्र नाड़ी पवन चलैगा कोटि झमका नादं।
बहत्तर चंदा बाई संख्या किरण प्रगटी जब आदं ॥

परन्तु योग-साधन केवल शारीरिक साधन नहीं है। बहिर्मुख वृत्ति से योग-सिद्धि प्राप्त करना असंभव है। वृत्तियों का अन्तर्मुख होना, योग की बहुत बड़ी आवश्यकता है। अन्तःशुद्धि तथा स्थिरता की योग में प्रधानता है, काया-शोधन की सार्थकता इसी में है कि वह उन्हें प्राप्त करने में सहायक हो। अतएव बिना मन को वश में किये शरीर को वश में करने का कोई अर्थ नहीं।

मन, काया का केन्द्रित चेतन स्वरूप है अथवा वृहत् चेतन इन्द्रिय है जो शरीर की विभिन्न बाह्य इन्द्रियों पर शासन करता है। मन के चंचल होने पर शरीर भी चंचल हो उठता है और इन्द्रियां विषयों की ओर लपकने लगती हैं। अतएव इन्द्रियों को विषयों से उठाने के लिए मन के बहिःप्रसार को समेट कर उसे आत्मतत्त्व की ओर प्रेरित करना चाहिए

गोरख बोलै, सुणहु रे अवधू पंचों पसर निवारी।
अपणीं आत्मा आप बिचारो, सोवो पांव पसारी ॥

आत्मचिन्तन का सबसे बड़ा सहायक अजपाजाप है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया पर मन को एकाग्र करने से मन का अत्यंत निग्रह होता है। नाथ योगियों का विश्वास है कि रात-दिन में मनुष्य के इक्कीस हजार छः सौ श्वास चलते हैं। इनमें से प्रत्येक श्वास में अद्वैत भावना करना 'अजपाजाप'

कहलाता है। अजपाजाप का अभिप्राय यह है कि बिना ब्रह्म-भावना के एक भी श्वास व्यर्थ न जाय। कुछ अभ्यास हो जाने पर बिना किसी प्रयत्न के गुप्त रूप से मन में यह भावना निरंतर अपने आप हुआ करती है, यहाँ तक कि ब्रह्म-भावना उसकी चेतना का स्वरूप हो जाती है—

ऐसा जाप जपो मन लाई। सोऽहं सोऽहं अजपा गाई।
आसन दिढ़ करि धरो धियाना। अहनिसि सुमिरो ब्रह्म गियाना।
नासा अग्रनिज ज्यों बाई। इड़ा पिंगुला मधि समाई।
छ सै सहस इकीसो जाप। अनहद उपजै आपै आप।
बंकनालि मैं ऊगै सूर। रोम रोम धुनि बाजै तूर।
उलटै कमल सहस्रदल बास। भ्रमर गुफा में ज्योति प्रकास।

साधक के इस प्रकार आत्मनिरत हो जाने से घट अवस्था सिद्ध होती है—

घटहीं रहिबा मन न जाई दूर। अहनिसि पीवै जोगी वारुणि सूर।
स्वाद विस्वाद बाई कालछीन। तब जाणिबा जोगी घट कालहीन।

इस प्रकार जब मन की बहिर्मुख वृत्ति नष्ट हो जाती है और साधक आत्मनिरत हो जाता है तब वह कायिक मन से ऊपर उठ जाता है और उन्मन दशा को प्राप्त हो जाता है। योग-साधना के द्वारा उसे समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। वह इच्छारूप धारण कर जहाँ चाहे वहाँ विचरण कर सकता है और उसे आत्मदेव के दर्शन प्राप्त हो सकते हैं—

काया गढ़ भीतर देव देहुरा कासी।
सहज सुभाई मिलै अविनासी॥

यह 'परिचय' अवस्था कहलाती है।

परिचय जोगी उन्मन खेला।
अहिनिसि इच्छा करै देवता सूं मेला।
दिन दिन जोगी नाना रूप।
तब जानिबा जोगी परिचय स्वरूप।
(गोरख)

सबसे अंत में 'निष्पत्ति' अवस्था आती है, जिसमें योगी की समदृष्टि हो जाती है, उसके लिए सब भेद मिट जाते हैं, सिद्धियों का मोह उसे नहीं रहता और काल के प्रभाव से मुक्त होकर निर्द्वन्द्व विचरण करता है। जिस काल का त्रैलोक्य के ऊपर शासन है और जो सबको [illegible] फिरता है।

ऊभा मारूं, बैठा मारूं, मारूं जागत सूता।
तीन लोक मग जाल पसारया कहाँ जाइगो पूता।

परन्तु इसके लिए शरीर में वायु के आने-जाने के सब मार्ग बंद कर देना आवश्यक होता है। शरीर के रोम-रोम में नाड़ीमुखों का अन्त है। जिनके द्वारा शरीर में पवन आता जाता है इसी कारण कुछ योग-पंथों में भस्म धारण आवश्यक बताया गया है। किन्तु वायु के यातायात के प्रधान द्वार नौ हैं। इन नौ द्वारों को बंद रखना नाथ-पंथी भाषा में वायु-भक्षण के लिए अत्यंत आवश्यक है---

अवधू नव घाटी रोकिलै बाट। बाई बणिजै चौसठि हाट।
काया पलटै अविचल बिधा। छाया बिवर जित निपजै सिधा।
सास उसास वायु कौं भछिवा, रोकि लेउ नव द्वोर।
छठै समासे काया पलटिवा। तब अनमनि जोग अपोर॥

इस प्रकार जब वायु शरीर में व्याप्त हो जाता है तो विन्दु स्थिर होकर अमृत का आस्वादन होता और अनाहत नाद सुनायी देने लगता है, तथा स्वयं-प्रकाश आत्म-ज्योति के दर्शन होने लगते हैं---

अवधू सहस्र नाड़ी पवन चलैगा कोटि झमका नादं।
बहत्तर चंदा बाई संख्या किरण प्रगटी जब आदं॥

परन्तु योग-साधन केवल शारीरिक साधन नहीं है। बहिर्मुख वृत्ति से योग-सिद्धि प्राप्त करना असंभव है। वृत्तियों का अन्तर्मुख होना, योग की बहुत बड़ी आवश्यकता है। अन्तःशुद्धि तथा स्थिरता की योग में प्रधानता है, काया-शोधन की सार्थकता इसी में है कि वह उन्हें प्राप्त करने में सहायक हो। अतएव बिना मन को वश में किये शरीर को वश में करने का कोई अर्थ नहीं।

मन, काया का केन्द्रित चेतन स्वरूप है अथवा बृहत् चेतन इन्द्रिय है जो शरीर की विभिन्न बाह्य इन्द्रियों पर शासन करता है। मन के चंचल होने पर शरीर भी चंचल हो उठता है और इन्द्रियां विषयों की ओर लपकने लगती हैं। अतएव इन्द्रियों को विषयों से उठाने के लिए मन के बहिःप्रसार को समेट कर उसे आत्मतत्व की ओर प्रेरित करना चाहिए

गोरष बोलै, सुणहु रे अवधू पंचौं पसर निवारी।
अपणी आत्मा आप विचारो, सोवो पांव पसारी॥

आत्मचिन्तन का सबसे बड़ा सहायक अजपाजाप है। श्वासोच्छ्वास की क्रिया पर मन को एकाग्र करने में मन का अत्यंत निग्रह होता है। नाथ योगियों का विश्वास है कि रात-दिन में मनुष्य के इक्कीस हजार छः सौ श्वास चलते हैं। इनमें से प्रत्येक श्वास में अद्वैत भावना करना

असंभव है, वहाँ भौतिक आवश्यकताओं के प्रति एकाएक आँख बंद कर भी योगसिद्धि नहीं हो सकती। शरीर नष्ट किये जाने योग्य नहीं है। उसकी भी रक्षा होनी चाहिए, परन्तु इस रूप से कि वह हमें पर न दबावे। इसीलिए गोरखनाथ ने उपदेश दिया है —

देव कला ते संजम रहिबा, भूत कला आहारं।
मन पवन ले उनमन धरिया, ते जोगी तत सारं।

'भूतकला और देवकला' अर्थात् भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकता दोनों का सम्यक संयोग ही नाथयोग की 'रहनी' का सार तत्व है। उसके बिना योगसिद्धि असंभव है। उसी के अभाव से साधक के लिए नगर और कानन दोनों में कोई-न-कोई समस्या उपस्थित रहती ही है।

अवधू वनखंड जाउँ तो क्षुध्या वियापै।
नगरी जाउँ तो माया।
भरि भरि खाउँ तो बिंद वियापै।
क्यूं सीझत जल ब्यंब की काया।

इन्हीं समस्याओं को हल करने के उद्देश्य से मत्स्येन्द्र ने गोरख को उपदेश दिया था।

अवधू रहिबा हाटे बाटे रूख बिरख की छाया।
तजिबा काम क्रोध तिस्ना और संसार की माया।
खाये भी मरिए अणखाये भी मरिए।
गोरख कहै पूता संजमि ही तरिए।
धाये न खाइबा भूखे न मरिबा।
अहनिसि लेबा ब्रह्म अगिनि का भेवं।
हठ न करिबा, पड़े न रहिबा।
यूँ बोल्या गोरख देव॥

जलंधरनाथ ने भी कहा है।

थोड़ा खाई तो कलपै, झलपै, घणों खाई तो रोगी।
दुहूँ पखाँ की संधि विचारै ते को बिरला जोगी॥

योगसाधन के लिए किसी स्थान विशेष का महत्व नहीं, महत्व है मानसिक मनस्थिति का जिसके द्वारा संयम संभव होता है और साधक साधक बहुतों में रह सकता है और शरीर की अत्यंत आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति करता हुआ मन को वश में रखता है।

निष्पत्ति योगी का निर्भय उत्तर है —

ऊभा खडौं, बैठा खंडौं, खंडौं जागत सूता।
तिहु लोक में रहौं निरंतर तौ गोरख अवधूता।

गोरख के नाम से प्राप्त सबद ग्रंथ में निष्पत्ति-योगी के लक्षण यों लिखे हैं —

निसपति जोगी जाणिवा कैसा।
अगनी पाणी लोहा जैसा।
राजा परजा सम करि देख।
तब जानिवा जोगी निसपति का भेख।

इस सिद्धि को देनेवाले समस्त अभ्यासों का वर्णन यहां पर नहीं किया जा सकता। यहां पर केवल एक अभ्यास का उल्लेख कर देना काफ़ी है, जिस का नाथपंथ में गोरक्ष के नाम के साथ संपर्क है।

जिस राज्य में धर्म-शासन हो, सुभिक्ष हो, प्रजा सुखी हो, किसी प्रकार का उपद्रव न हो, वहां योगार्थी निर्मल जलस्रोत के पास एकांत में अपने लिए मढ़ी बनावे, जिसमें आने-जाने के लिए एक छोटे से द्वार को छोड़ कर कोई छिद्र तक न हो। षटकर्मों से अपनी देह को शुद्ध कर सिद्धासन में बैठकर खेचरी-मुद्रा के साथ 'केवल' कुंभक का बारह वर्ष तक अभ्यास करे। कहते हैं कि गोरक्षनाथ ने विशेषकर कर इसी अभ्यास से योग-सिद्धि प्राप्त की थी।

योग-युक्ति के प्रधानतया दो अंग हैं – एक 'करनी' और दूसरा 'रहनी'। ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह 'करनी' अथवा क्रिया है। उसे देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथपंथ में हठयोग प्रचलित है। बल्कि यह कहना चाहिए कि हठयोग का पूर्ण प्रवर्धन नाथपंथ के द्वारा ही हुआ है। परन्तु हठ-योग के संबंध में जनसाधारण में गलत धारणा फैली हुई है, वे उसे हठ-धर्मी समझते हैं और बहुधा हेय भी, परन्तु किसी भी साधना-मार्ग में हठ सबसे पहली आवश्यकता है। योगसूत्र में दी हुई योग की परिभाषा में योग का कुछ स्पष्ट स्वीकार किया गया है (योगश्चित्तवृत्ति निरोधः)। निरोध बिना हठ के संभव नहीं। परन्तु साथ ही इस बात का ध्यान भी रक्खा जाता है कि मन तथा इन्द्रियों के साथ यह हठ बड़ी आसानी से किया जा सके।

करनी का यह सौंदर्य रहनी के द्वारा संभव होता है। नाथ-पंथ की रहनी मध्यम मार्ग कही जा सकती है। मन तथा शरीर को अधिक कष्ट देना आत्म-पथ में विहित नहीं है। जहां इन्द्रियों का दास बनकर योग साधन

असंभव है, वहाँ भौतिक आवश्यकताओं के प्रति एकाएक आँख बंद कर भी योगसिद्धि नहीं हो सकती। शरीर नष्ट किये जाने योग्य नहीं है। उसकी भी रक्षा होनी चाहिए, परन्तु इस रूप से कि वह हमें पर न दबावे। इसीलिए गोरखनाथ ने उपदेश दिया है —

देव कला ते संजम रहिबा, भूत कला आहारं।
मन पवन ले उनमन धरिबा, ते जोगी तत सारं।

'भूतकला और देवकला' अर्थात् भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकता दोनों का सम्यक संयोग ही नाथयोग की 'रहनी' का सार तत्व है। उसके बिना योगसिद्धि असंभव है। इसी के अभाव से साधक के लिए नगर और कानन दोनों में कोई-न-कोई समस्या उपस्थित रहती ही है।

अवधू वनखंद जाऊँ तो क्षुध्या विआपै।
नगरी जाऊँ तो माया।
भरि भरि खाऊँ तो बिंद विआपै।
क्यूं सीझत जल ब्यंद की काया।

इन्हीं समस्याओं को हल करने के उद्देश्य से मत्स्येन्द्र ने गोरख को उपदेश दिया था।

अवधू रहिबा हाटे बाटे रूख बिरख की छाया।
तजिबा काम क्रोध तिस्ना और संसार की माया।
खाये भी मरिए अणखाये भी मरिए।
गोरख कहै पूता संजमि ही तरिए।
धाये न खाइबा भूखे न मरिबा।
अहनिसि लेबा ब्रह्म अगिनि का भेव।
हठ न करिबा, पड़े न रहिबा।
यूँ बोल्या गोरख देव॥

जलंधरनाथ ने भी कहा है।

थोड़ो खाई तो कलपै, झलपै, घणो खाई तो रोगी।
दुहूँ पखां की संधि विचारै ते को विरला जोगी।

योगसाधन के लिए किसी स्थान विशेष का महत्त्व नहीं, महत्त्व है मानसिक समस्थिति का, जिसके द्वारा संयम संभव होता है और साधक सामान्य रूप से रह सकता है और शरीर की अत्यंत आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति करता हुआ मन को वश में रखता है।

निष्पत्ति योगी का निर्भय उत्तर है —

ऊभा खडौं, बैठा खंडौं, खंडौं जागत सूता।
तिहु लोक में रहौं निरंतर तौ गोरख अवधूता।

गोरख के नाम से प्राप्त सबद ग्रंथ में निष्पत्ति-योगी के लक्षण यों लिखे हैं —

निसपति जोगी जाणिवा कैसा।
अगनी पाणी लोहा जैसा।
राजा परजा सम करि देख।
तब जानिवा जोगी निसपति का भेख।

इस सिद्धि को देनेवाले समस्त अभ्यासों का वर्णन यहाँ पर नहीं किया जा सकता। यहाँ पर केवल एक अभ्यास का उल्लेख कर देना काफ़ी है, जिस का नाथपंथ में गोरक्ष के नाम के साथ संपर्क है।

जिस राज्य में धर्म-शासन हो, सुभिक्ष हो, प्रजा सुखी हो, किसी प्रकार का उपद्रव न हो, वहाँ योगार्थी निर्मल जलस्रोत के पास एकांत में अपने लिए मढ़ी बनावे, जिसमें आने-जाने के लिए एक छोटे से द्वार को छोड़ कर कोई छिद्र तक न हो। षटकर्मों से अपनी देह को शुद्ध कर सिद्धासन में बैठकर खेचरी-मुद्रा के साथ 'केवल' कुंभक का बारह वर्ष तक अभ्यास करे। कहते हैं कि गोरक्षनाथ ने विशेषकर कर इसी अभ्यास से योग-सिद्धि प्राप्त की थी।

योग-युक्ति के प्रधानतया दो अंग हैं— एक 'करनी' और दूसरा 'रहनी'। ऊपर जो कुछ कहा गया है, वह 'करनी' अथवा क्रिया है। उसे देखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि नाथपंथ में हठयोग प्रचलित है। बल्कि यह कहना चाहिए कि हठयोग का पूर्ण प्रवर्तन नाथपंथ के द्वारा ही हुआ है। परन्तु हठ-योग के संबंध में जनसाधारण में गलत धारणा फैली हुई है, वे उसे हठ-धर्मी समझते हैं और बहुधा हेय भी, परन्तु किसी भी साधना-मार्ग में हठ सबसे पहली आवश्यकता है। योगसूत्र में दी हुई योग की परिभाषा में योग का हठत्व स्पष्ट स्वीकार किया गया है (योगश्चित्तवृत्ति निरोधः)। निरोध बिना हठ के संभव नहीं। परन्तु साथ ही इस बात का ध्यान भी रक्खा जाता है कि मन तथा इन्द्रियों के साथ यह हठ बड़ी आसानी से किया जा सके।

करनी का यह सौकर्य रहनी के द्वारा संभव होता है। नाथ-पंथ की रहनी मध्यम मार्ग कही जा सकती है। मन तथा शरीर को अधिक कष्ट देना नाथ-पंथ में विधेय नहीं है। वहाँ इन्द्रियों का दास बनकर योग साधन

असंभव है, वहाँ भौतिक आवश्यकताओं के प्रति एकाएक आँख बंद कर भी योगसिद्धि नहीं हो सकती। शरीर नष्ट किये जाने योग्य नहीं है। उसकी भी रक्षा होनी चाहिए, परन्तु इस रूप से कि यह हमें धर न दबावे। इसीलिए गोरखनाथ ने उपदेश दिया है --

देव कला ते संजम रहिबा, भूत कला आहारं।
मन पवन ले उनमन धरिया, ते जोगी तत सारं।

'भूतकला और देवकला' अर्थात् भौतिक और आध्यात्मिक आवश्यकता दोनों का सम्यक संयोग ही नाथयोग की 'रहनी' का सार तत्व है। उसके बिना योगसिद्धि असंभव है। उसी के अभाव से साधक के लिए नगर और कानन दोनों में कोई-न-कोई समस्या उपस्थित रहती ही है।

अवधू वनखंड जाऊँ तो क्षुध्या बियापै।
नगरी जाऊँ तो माया।
भरि भरि खाऊँ तो बिंद बियापै।
क्यूं सीझत जल ब्यंद की काया।

इन्हीं समस्याओं को हल करने के उद्देश्य से मत्स्येन्द्र ने गोरख को उपदेश दिया था।

अवधू रहिबा हाटे बाटे रूख बिरख की छाया।
तजिबा काम क्रोध तिस्ना और संसार की माया।
खाये भी मरिए अणखाये भी मरिए।
गोरख कहै पूता संजमि ही तरिए।
धाये न खाइबा भूखे न मरिबा।
अहनिसि लेबा ब्रह्म अगिनि का भेव।
हठ न करिबा, पड़े न रहिबा।
यूं बोल्या गोरख देव॥

जलंधरनाथ ने भी कहा है।

थोड़ा खाई तो कलपै, झलपै, घणों खाई तो रोगी।
दुहूँ पखाँ की संधि बिचारै ते को बिरला जोगी।

योगसाधन के लिए किसी स्थान विशेष का महत्व नहीं, महत्व है मानसिक समस्थिति का जिसके द्वारा संयम संभव होता है और साधक साधना करता रह सकता है और शरीर की अत्यंत आवश्यक आवश्यकताओं को पूरा करता हुआ मन को वश में रखता है।

मन को वश में रखना योग की रहनी की सबसे बड़ी आवश्यकता है। योग का बनना-बिगड़ना उसी पर निर्भर है। मन की अनन्त सामर्थ्य है। द्रोही होकर जो मन जीव को चौरासी के फन्दे में डालता है सम अवस्था प्राप्त होने पर वही उससे बाहर भी निकालता है।

यहु मन सकती, यहु मन सीव । यह मन पंच तत्व का जीव ।
यहु मन लै जो उन्मन रहै। तो तीनों लोक की बार्थे कहै।

अतएव जब चौरंगीनाथ ने कहा था।

मारिवा तौ मन मीर मारिवा, लूटिवा पवन भण्डारं।

तब उनका अभिप्राय मन के द्रोहित्व से था। द्रोही मन का मारण तभी हो सकता है जब हम उसकी रक्षा को अपना उद्देश्य बना कर चलें, एकाएक उसे कुचल ही डालने का प्रयत्न न करें। नहीं तो जगत के आकर्षण से उसे खींच लेना आसान काम नहीं है।

जोगी सो जो मन जोगवै ।
बिन विलाइत राज भोगवै ।
(परमसुनि)

मन की इस द्विविध रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि उसे खाली न रहने दिया जाय। खाली मन ही द्रोही होकर अंत में बुराई करता है।

सुचै खेल चोर पइसौ चेतौ रे चेतन हारं।
(चुणकरनाथ)

इसलिए मन को सतत किसी-न-किसी काम पर लगाये रखना आवश्यक है। नाथ-पंथियों के लिए आदेश है।

कै चलिबा पंथा। कै सीबा कंथा।
कै धरिबा ध्यान। कै कथिबा ज्ञान।

मन को अचंचल रखने के लिए योगी को अपने आहार-विहार में सदैव सावधान और संयत रहना पड़ता है।

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा, धीरे धरिबा पावं।
गरब न करिबा, सहजै रहिबा, भणत गोरख रावं।
गोरख कहै, सुणहु रे अवधू, जग में ऐसे रहणा।
आँखें देखिबा, कानें सुणिबा, मुख थैं कछू न कहणा।
नाथ कहै, तुम आपा राखौ, हठ करि वाद न करणा।
यह जग है कांटे की बाड़ी, देखि दृष्टि पग धरणा।

इस जगत में रहते हुए भी योगी को उसमें लिप्त न होना चाहिए। क्योंकि यह विकार संसार के बंधन का मूल है। अतएव योगी को इन विकारों से दूर आत्मनिविष्ट होकर रहना चाहिए—

मन में रहणा, भेद न करणा, बोलिबा अमृत वाणी।
आगि का अगिनी होइवा, अवधू आपण होईबा पाणी।

यदि थोड़े में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि नाथ-पंथ की रहनी युक्ताहारविहार की रहनी है, जिसके साहचर्य से गीता के अनुसार योग की युक्ति इस संसार-दुःख का नाश करनेवाली होती है।

युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नाववोधस्य योगो भवति दुःखहा।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि योगी की रहनि विरक्ति की रहनि है। वह गृहस्थाश्रमियों के लिए नहीं है। सांसारिक अभ्युदय की प्राप्ति और आध्यात्मिक निःश्रेयस की सिद्धि दोनों एक साथ नहीं हो सकतीं। सांसारिक अभ्युदय के लिए इतना समय देने की आवश्यकता है कि पूर्ण निःश्रेयस के लिए यथोचित अवकाश नहीं मिल सकता और निःश्रेयस के लिए इतनी एकाग्रता की आवश्यकता है कि सांसारिक धर्मों के पालन की ओर पर्याप्त ध्यान नहीं जा सकता। अतएव गार्हस्थ्य को त्यागे विना योग-साधन में प्रवृत्त होना नाथ-पंथियों के लिए योग की विडम्बना-मात्र है।

कलजुग मध्ये कोण जोगी वोलिये ?
परजा जोगी, रहै कहां ? गृहे गृहे ?
भषै कहा ? अन्न पाणी वोलै कहा ?
मैं तैं वाणी, ऊँ नमो द्वैत्याय।
(मुकुंद भारती)

गृहस्थों के लिए भी कतिपय योग-साधनों का विधान है सही, परन्तु वह उतना निःश्रेयस के लिए नहीं जितना अभ्युदय के लिए; क्योंकि, जैसा कृष्ण-भगवान् ने कहा है, 'योगः कर्मसु कौशलम्' इसीलिए 'योगस्थः कुरुकर्माणि' का आदेश गृहस्थों के लिए भी समझना चाहिए। परन्तु पूर्ण निःश्रेयस अथवा योगसिद्धि के लिए तो गार्हस्थ्य का त्याग अत्यंत आवश्यक है। इसी वात को ध्यान में रखकर वर्णाश्रम धर्म में सन्यासाश्रम की व्यवस्था है। परन्तु संन्यासाश्रम जीवन के संध्या काल में आता है जव कि इन्द्रिय-संयम

सामर्थ्य का नहीं, निर्बलता का सूचक होता है, वार्धक्य के कारण शिथिलांग व्यक्ति का योगी होना नाथ-पंथ में उपहास की बात समझी जाती है।

पहली कीये लड़का लड़की अबहि पंथ में पैठा।
बूढ़ै चमड़ै भसम लगाई वज्र जती है बैठा।

(बालानाथ)

वास्तविक यती वही कहा जा सकता है जिसने आरम्भ ही जीवन बिताया है।

बालै जोवन जें नर जती। कालह कार्ला तें नर सती।
फुरतै भोजन अलप अहारी। कहै गोरख सो काया हमारी।

इसी से बुद्ध भगवान् ने अपने भिक्षुसंघ को जन्म दिया था और इसी से नाथ-पंथ ने भी सब आश्रमों की अवहेलना कर पूर्ण विरक्ति की व्यवस्था की है। हाँ, यह नहीं कहा जा सकता कि जो बूढ़े हो गये हैं, अथवा गृहस्थ रह चुके हैं उनके लिए नाथ-पंथ कैवल्य का मार्ग नहीं खोलता। वह बाल-वृद्ध सबको कैवल्य की ओर ले जाता है। हाँ इसमें सन्देह नहीं कि जो जितनी जल्दी आवेगा वह उतनी ही आसानी से उस पर चल सकेगा क्योंकि आत्मिक स्वस्थता के लिए शारीरिक स्वास्थ्य भी आवश्यक है।

यद्यपि योगी को सामाजिक धर्म से अलग रहना होता है, फिर भी उसकी योग की सिद्धि के लिए आवश्यक है कि अन्यों के द्वारा उसका यथोचित पालन होता रहे।

बिना उसके उनका 'भूत कला आहारं' भी प्राप्त नहीं हो सकता। योग-साधन के लिए जिस विघ्न-बाधा-हीनता तथा शांति की आवश्यकता होती है उसकी तो बात ही अलग है। यही कारण है कि जो राजाओं के राज्य-विभव को भी कुछ नहीं समझते उन योगार्थियों के लिए भी धर्मानुसार शासित राज्य में रहना प्रारंभिक आवश्यकता है।

यह संक्षेप में सब विद्याओं में श्रेष्ठ नाथों की 'काल वंचणी' विद्या है जिसके द्वारा साधक नौ द्वारों को बंद कर दशम द्वार (ब्रह्मरंध्र) में समाधिस्थ हो अमृत का पान कर फिर बूढ़े से बालक हो जाता है।

सुणौ हो दवल तजौ जंजालं।
अमिय पीवत तव होइवा बालं।
ब्रह्म अगिनि (तै) सींचत मूलं।
फूल्या फूल कली फिर फूलं।

इस प्रकार नव-नाथ और चौरासी सिद्ध[1] हो कर वह अजरामर हो जाता है। सिद्ध योगी कभी मरता नहीं है, उसकी काया अमर है, इसीलिए वह समाधिस्थ किया जाता है, जलाया नहीं जाता। लोगों का विश्वास है कि भाग्यशालियों को अब भी 'बूढ़ा बालं' 'गोरख गोपालं' दर्शन दे जाता है, यद्यपि इसका ज्ञान-दर्शन पानेवालों को बहुत देर में होता है।

---

[1]—इससे यह न समझना चाहिए कि मैं नौ नाथ, चौरासी सिद्धों का होना नहीं मानता।

—लेखक

संतों का सहज ज्ञान

किसी को इस बात का वास्तविक ज्ञान हो सकता है कि मनुष्य में वास्तविकता उसकी आत्मा है और यही आत्मा ब्रह्म है। परंतु 'यदयमात्मा' 'सोऽहं' 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' आदि वाक्यों को दुहराने से तो कुछ होता नहीं है। सिद्धांत-कथन-मात्र तो ब्रह्मज्ञान होने का साक्षी नहीं है जैसा कबीरदास ने कहा है।

ऊपर की मोहि बात न भावै।
देखै गावै तो सुख पावै।*

यह 'देखना' बुद्धि और मन के द्वारा संभव नहीं। ब्रह्म तक इनकी गति ही नहीं है। जहां कहीं दर्शनशास्त्र ब्रह्मानुभूति के निकट पहुँचता है, वहीं तर्क का साथ छूट जाता है। वस्तुतः और सिद्धांतों की तार्किक भ्रांतियों को दूर करने के उद्देश्य से ही एक के बाद एक दर्शनशास्त्र का उदय हुआ और होता है। परंतु अभी तक ऐसी कोई शास्त्रीय योजना नहीं निकली है, जो सर्वांश में तर्कसम्मत हो। ऐसी कोई योजना निकल भी नहीं सकती। इसीलिए कबीर ने कहा है दर्शनशास्त्रों की वहां तक पहुँच हो ही नहीं सकती। वे बाहर ही रह जाते हैं।† वस्तुतः जब तक दर्शनशास्त्र बुद्धिवाद ही के आसरे तत्वज्ञान तक पहुँचने का प्रयत्न करते रहेंगे तब तक उन्हें स्वभावतया ऐसी पहेलियों का घर बना रहना पड़ेगा जिनको सुलझाने का उनके पास कोई उपाय नहीं है, जिसके लिए सिद्धांतवादी उसका प्रयोग करना चाहते हैं।

ब्रह्मानुभवी व्यक्तियों का कथन है कि बाह्य मन और बुद्धि के परे एक और शक्ति है जिसके द्वारा निर्गुण ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। प्राचीन द्रष्टा ऋषि और अद्वैत वेदांती इस शक्ति अथवा वृत्ति के अस्तित्व की घोषणा कब से करते आ रहे हैं। इसे साक्षात् ज्ञान, अनुभव ज्ञान अथवा

*—कबीर ग्रंथावली, पृ० १६२, २१८।

†—षट दरसन कहियत हमभेषा—कबीर ग्रंथावली पृ० २०१, ३३२।

अपरोक्षानुभूति कहते हैं। यही भगवद्गीता का दिव्यचक्षु है।* मुंडकोपनिषद् † के अनुसार निष्कल ब्रह्म न आँखों से गृहीत होता है, न वचनों से, न तप से और न कर्म से। विशुद्ध सत्वधीर व्यक्ति उसे ज्ञान के प्रसाद से साक्षात् देखते हैं। ऋग्वेद के अनुसार "सदा पश्यन्तिसूरयः"‡ के आधार पर दर्शन का 'दर्शन' नाम पड़ा है। दर्शन, परमात्मा का दर्शन कराता है उसे साधक के अनुभति-पथ में ले आता है, बुद्धि और तर्क के सहारे समझाता भर ही नहीं है।

बुद्धि और तर्क के क्षेत्र को नोचे छोड़ कर निर्गुणी संत भी अनुभूति के इसी राज्य में प्रविष्ट होने का दावा करता है, जहाँ उसे एकमात्र परमसत्ता का साक्षात्कार होता है। यदि टेनिसन की एक पंक्ति को उद्धृत करें तो कह सकते हैं—स्थिर सूक्ष्म गंभीर सत्तत्वों को उसे संवेदना हुई होती है।+ बिना इस अनुभूति-ज्ञान के दर्शनशास्त्र एक विवादमात्र है। परंतु जैसा सुन्दरदास ने कहा है—"जाके अनुभव ज्ञान, वाद में न बह्यो है।"× दूसरों से सुन-सुन कर प्राप्त हुआ ज्ञान जिसके पीछे अनुभव का सहारा नहीं है, झूठा है। सार वस्तु है अनुभव, जो हमें तभी प्राप्त हो सकता है जब स्थूल बुद्धि से ऊपर उठकर अपरोक्षानुभूति के राज्य में हमारा प्रवेश हो। तभी हमें स्वानुभव से ज्ञात हो सकता है कि वस्तुतः हमारे ही भीतर ब्रह्म की सत्ता है। इसी अनुभव ज्ञान को निर्गुणी संतों ने सहजज्ञान कहा है. जिसकी ऊँचाई तक चढ़ जाना आध्यात्मिक क्षेत्र में आवश्यक है। वहाँ जो पहुँच जाता है, वह संसार के प्रभाव से दूर हो जाता है।

---

*—गीता ११, ८।

†—न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा।
नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्ध सत्व—
स्ततस्तु तम्पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।
मुंडक, ३, १, ८।
परिपश्यंति धीराः।—वही १, १, ६।

‡—ऋग्वेद १, २२।

+—दि स्टिल् सिरीन ऐट्रेक्शन्स ही हैव फ़ेल्ट'—"दि मिस्टिक"।

×—सुंदर विलास, १६०।

काम में लाकर उनसे ऊपर उठने से ही हो सकती है, उसका सर्वथा बहिष्कार करने से नहीं। दादू ने इसीलिए विचार को सब व्याधियों की एकमात्र औषधि कहा है। उनकी सम्मति में करोड़ों आचारी भी एक विचारी की बराबरी नहीं कर सकते। आचार का पालन तो सारा जगत कर लेता है। पर विचारी कोई विरला ही हो सकता है।* परन्तु सहजानुभूति के क्षेत्र में विचार नहीं पहुँच पाता। उसका बहिष्कार नहीं किया जाता, वह नीचे ही रह जाता है। क्योंकि वह व्यावहारिक है। इसी से कबीर ने कहा है जब ब्रह्म का साक्षात् हो गया तब विचार का क्या काम? व्यवहार तो अब कोई रह ही नहीं गया।† और इसी को ध्यान में रखकर संभवतः शिवदयाल जी ने भी कहा है कि परमपद में केवल सत्य नाम है, वहाँ विचार का कोई काम नहीं। विचार का काम माया के क्षेत्र तक है जहाँ बूंद सिंधु से अलग है। इसलिए जिन्होंने यह समझा कि विचार को लेकर हम परमपद रूप सागर में पहुँच जायंगे वे धोखे में आ गये और बूंद ही के क्षेत्र में रह गये। जीवदशा से छुटकारा न पा सके।‡

सहजानुभूति को जगाकर जो संत ब्रह्म-समाधि में लीन हो जाता है, वह संसार से अलग पहचाना जाता है। उसके संबंध में कोई गलती नहीं हो सकती। उसका प्रेमोज्ज्वल परमार्थी रूप छिपा नहीं रह सकता—

अनुभव प्रेम उज्ज्वल परमारथ रूप अलग दरसावै।
कह भीपा वह जागरत जोगी सहज समाधि लगावै॥+

उसके प्रत्येक सांसारिक कृत्य में यह सहजानुभूति परिलक्षित होती है, कभी उसका तार टूटता नहीं है—

---

*—दादू सबही व्याधि की औषधि एक विचार।
समझे तें सुख पाइए, कोइ कुछ कहै गँवार॥
कोटि अचारी एक विचारी तऊ न सरभरि होइ।
आचारी सब जग भर्‌या, विचारी विरला कोइ॥

†—अब क्या कीजे ज्ञान विचारा, निज निरखत गत ब्योहारा॥
—कबीर-ग्रंथावली, पृ० १०४, २८२।

‡—हमरे देश एक सत नाम, वहाँ विचार का कुछ नहीं काम।
कर विचार इन धोखा खाया, बुंद माँहि यह जाय समाया॥
—सारवचन, २ ब, पृ० ७६।

+—बानी, पृ० २५, २।

साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप जा दिन से जागी दिन दिन अधिक चली।
जहँ जहँ डोलौं सो पैकरमा जो कुछ करौं सो सेवा।
जब सोवों तब करौं दंडवत पूजौं और न देवा॥
कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन, खाँव पियौं सो पूजा।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा॥
आँख न मूदौं कान न रूँधों, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि, सुन्दर रूप निहारौं॥
सबद निरंतर सो मन लागा, मलिन वासना त्यागी।
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै ऐसी तारी लागी॥
कह कबीर यह उनमनि रहनी, सो परगट कर गाई।
दुख-सुख से कोई परे परमपद, तेहि पद रहा समाई॥*

जैसे माला के सब मनकों को वेधते हुए सूत चला जाता है, उसी प्रकार यह अनुभूति उसके कामों में व्याप्त रहती है—या यों कहिये कि दूध में जैसे घी सर्वत्र विद्यमान रहता है उसी प्रकार यह चरम ज्ञान उसके व्यवहार में रहता और. उसके आनंद का ठिकाना नहीं रहता क्योंकि यह ज्ञान उसी ब्रह्म में मल जाना है। परब्रह्म और उसका सहज ज्ञान विभिन्न सत्ताएँ नहीं हैं, दोनों एक हैं। इसी से संतकेशव ने उसको सहजस्वरूप कहा है—

कोटि बिस्नु अनंत ब्रह्मा, सदासिव जेहि ध्यावहीं।
सोई मिलो सहजसरूप केसो, आनंद मंगल गावहीं॥†

अतः इससे बढ़कर आनन्ददायी अनुभूति और कौन हो सकती है?

---

*—संतबानी संग्रह, २, पृ० १४-१५।

†—अमीघूंट, पृ० ३, १२।

उत्तराखंड के मंत्रों में

गोरखनाथ

गोरखनाथ का नाम समस्त उत्तर भारत की जनता में व्याप्त है। उनका नाम सुनते ही एक सर्व समर्थ त्रिकालज्ञ सिद्ध योगी का दिव्य चित्र कल्पना के नेत्रों में आ जाता है। वे आदर, आश्चर्य और आतंक के भावों को हृदय में एक साथ उठा देते हैं। किन्तु उनके सम्बन्ध में प्रामाणिक बातें कुछ भी नहीं ज्ञात हैं। इसके लिए सामग्री का बहुत अभाव है। हां, थोड़ी सी सामग्री ऐसी है जो उनके सम्बन्ध में कुछ अनुमान लगाने में सहायक होती है। उसे हम इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं। (१) मंत्र (२) दंतकथाएँ (३) स्वयं उनके नाम से चले हुए कुछ पद्य (४) और संतों से उनका सम्बन्ध।

जंत्र-मंत्रों का देश में बहुत प्राचीन काल से प्रचार है। अपने इष्ट-साधन तथा शत्रु का अनिष्ट कराने के लिए जगत में सर्वत्र जंत्र-मंत्रों का प्रयोग होता है। मारण, मोहन, वशीकरण, उच्चाटन, कीलन, उत्कीलन आदि तांत्रिक अभिचार हमारे देश में खूब चलते रहे हैं। सबसे अधिक प्रयोग जो इनका होता था वह शरीररक्षा के लिए। आत्मरक्षा के लिए कील–कवच का पाठ वे लोग भी करते हैं जो ओझाओं को भूत-प्रेत-पूजक मानते हैं। तुलसी जी ने भी वशिष्ठ से राम का अनिष्ट शांत करने के लिए नरसिंह-मंत्र का पाठ करवाया है।* गांवों में इन मंत्रों का प्राचीन काल के ही समान

---

*—आजु अनरसे हैं भोर के, पय पियत न नीके।
रहत न बैठे ठाढ़े पालने झुलावत हू, रोवत राम मेरो सो सोच सबही के॥
देव पितर ग्रह पूजिये तुला तौलिये घी के।
तदपि कबहुँ कबहुँक सखी ऐसेहि अरत जब परत दृष्टि दुष्ट ती के॥
बेगि बोलि कुलगुरु छुयो माथे हाथ अमी के।
सुनत आइ ऋषी कुस हरे नरसिंह मंत्र पढ़े जो सुमिरत भय भी के॥
—गीतावली १, १२।

साम्राज्य है। वहाँ रोग-निवारण के लिए सबसे पहले मांत्रिक ही ढूँढ़ा जाता है। वह अब पहले के ही समान सर्वश्रेष्ठ वैद्य समझा जाता है।* उत्तराखंड के पहाड़ी प्रदेश में इसीलिए रोग-निवारण और शरीररक्षा के लिए मंत्र-प्रयोग को वैदाई कहते हैं। इन मंत्रों में प्रभावोत्पादन के लिए प्राचीन काल के बड़े सिद्धों की दुहाई दी जाती है और उनके कुछ कल्पों का स्मरण किया जाता है इसी प्रसंग से गढ़वाल प्रदेश के मंत्रों में कुछ सिद्धों का उल्लेख हो गया है। इन मंत्रों के अवसरानुसार अलग-अलग नाम हैं। शरीररक्षा के मंत्र जो साधारणतया सब रोगों के निवारण के लिए प्रयोग में आते हैं 'रखवाली' और 'घट थापना' कहलाते हैं। भगंदर को दूर करनेवाले मंत्र को छिद्रवाली, नरसिंह देवता के रोष को दूर करनेवाले मंत्र को नरसिंग्वाली और मुसलमानी पीरों, प्रेतात्माओं के रोष को दूर करनेवाले मंत्रों को सैद्वाली कहते हैं। इसी प्रकार 'दरियाव' भी मुसलमानी प्रभाव का द्योतक है। दरियाव और सैद्वाली को छोड़कर सब प्रकार के मंत्रों में नवनाथों और सिद्धों की आण (आज्ञा) पड़ती है। जिन नाथों और सिद्धों के नाम उनमें आते हैं, वे ये हैं—गोरखनाथ , मछंदरनाथ, चौरंगीनाथ, वालकनाथ , लालनाथ, गरीबनाथ, सतनाथ, गुंफानाथ, महादेवनाथ, चंद्रनाथ, हनुमंतनाथ, पिंगलनाथ, चौसदियानाथ, फटिकनाथ, नरसिंहनाथ, गोपीचंद भरतरी, वटुकनाथ, वृकुणनाथ, प्रचंडनाथ, गोलालनाथ, सुखीनाथ, लोकमणीनाथ, सुर्जनाथ, लोठणनाथ, कालनाथ, कंकालनाथ, तिलोकीनाथ, अजैपाल और कवीरनाथ। इसमें संदेह नहीं कि इसमें से कुछ देवताओं के नाम हैं जो नाथपंथ में नाथ मान लिये गये हैं। जैसे महादेवनाथ, हनुमंतनाथ और नरसिंगनाथ। अन्य कुछ नाम ही नाम हैं। हाँ, पहले तीनों तथा कुछ थोड़े अन्यों के सम्बंध में कुछ अधिक कहा गया है। गोरखनाथ के विषय में उनमें जो कुछ कहा गया है वह आगे दिया जाता है।

'घटथापना' में गोरखनाथ का जन्म गोवरपिंडी स माना गया है।† ओले की रोक के लिए डलिये नाथ जो मंत्र‡ कहते हैं, उनमें गोरखनाथ का जन्म

---

*—रस-वैद्यौ देव-वैद्यो मानुषो मूलकादिभिः। (?)
अधमश्शस्त्र दाहाभ्यां (?) सिद्ध-वैद्यस्तु मांत्रिकः॥

†—श्री गोरषनाथ वीर भैराऊँ वावा जिनने गोरषपंजा, गोरष ध्यान गोरष की पिंडी औतार लिया।

‡—पैले ऊँकार तब भयो निरंकार········शिव जी की जटा ते उपजे गुरु गोरषनाथ। —डाल मंत्र

शिव जी की जटा से माना गया है। गोरष कुंडली नामक मंत्र में कुंडली से सम्बन्ध रखनेवाली कोई बात नहीं है। सम्भवतः उसमें कुंडली से अभिप्राय कुंडलिनी से हो क्योंकि उसमें अमृत, उन्मनी आदि का भी उल्लेख है।+ ये अधिकतर यती× और ब्रह्मचारी† कहकर पुकारे जाते हैं। कहा गया है कि इन्होंने एक साथ चौरासी लाख योनि का फेरा करके अपना दाना-पानी पूरा कर लिया था,‡ मुक्त हो गये थे। सिद्धों में ये सबसे बड़े सिद्ध समझे जाते हैं। कहीं ये और सब सिद्धों की भाँति वीर भैरव माने गये हैं, और कहीं वृद्ध भैरव।÷ नाना प्रकार के रोगों के ऊपर इनका अधिकार माना जाता है। नाना प्रकार के अभिचारों से लोगों की रक्षा करने की उनमें सामर्थ्य मानी जाती है। शरीर की रक्षा के लिए उनकी दुहाई दी जाती है। शरीर में अमृत संचार के लिए उनका स्मरण किया जाता है।\$ विभूति इनको बहुत प्रिय है। विशेष कर कंडे और पीपल की इसी से रखवाली में राख का प्रयोग किया जाता है।* इनके लिए पत्थर पवित्र माना गया है। इनके घट-घाट

+—जोगी होइ त उन्मुन भिक्षा माँगी पाऊँ—गोरष कुंडली।

×—सिद्ध मध्ये गोरष जती कू आदेशं। सिद्ध मध्ये गोरष जती की आरण पड़ी।

†—घट पिंडा थापिले बाबा गुरु गोरष ब्रह्मचारी—'घट थापना'।

‡—अष्ट में बुध भैराऊँ श्री गुरु गोरषनाथ जिनने लक्ष चौरासी जाय जीवन का दाणा पाणी पुरयापीलीया।

÷—तू जागिजा रा वीर भैराऊँ तू जागिजा भै भै गोरषनाथ जी तेरे आगे छलं देव वलं होइगो तुम हुंकारी बोलांदो बाण संघारी लीया मृत्युमंडल को थोड़ी निनाई दैत्र दानव भूत प्रेत का बाण संघारी लीया चिया को छार मड़ा को हाड़ मुल्याव को हाड़ मड़घट की माटी मुल्याव की षोपड़ी के बाण संघारी लिया······सिधा गुरु गोरषनाथ वीर भैराऊँ येइ घट पिंडा तू रप ले बाबा तेरी चौकी तेरो पहर तेरो सुमिरन श्री गुरु पादुकाय······

\$—घट पिंडा का गुरु गोरष रखवाला अमृत देऊँ पीऊँ पीर कहाँ है रे मेरा वज्रंगी वीर वज रमारे गोरष जोगी।

*—ॐ विभूती माता विभूतो पिता तीन लोक तारणी सर्व दुःष निवारिणी चढ़ं विभूति पड़े इथाऊँ रक्षा करे श्री गोरष राऊ बाबा गोरषनाथ सिद्ध-जोग आरणो गोसा की वभूत पीपल की रागणी।—आप रक्षा वभूत मंत्र

(वर्तन सिंहासन) पत्र-छत्र, आसन-वेसन, डंडा-डमरू, मुद्रा-नाद, सेली-सिंघी और फावड़ी सब पत्थर की कही जाती हैं। ये वनवासी कहे गये हैं। इनका आश्रम उत्तर दिशा में वदरी केदार की ओर कहीं+ धवल गुहा में बताया गया है।‡ एक जगह इनकी शक्ति (अर्द्धांगिनी) देवी तारा तोतला बतायी गयी है।× इनके उपदेशों से हिन्दू मुसलमान दोनों ने लाभ उठाया है। दोनों के साधु इनके शिष्य होकर इनके साथ हो लिये।÷

+--बावा श्री गोरपनाथ......पत्थर का घट पत्थर का पाट पत्थर का पत्र पत्थर का छत्र पत्थर का आसण-वेसण पत्थर का डंडा-डमरू पत्थर का मुद्रा पत्थर का नाद पत्थर की सेली-सिंगी पत्थर की फावड़ी...... गोरप कुण्डली।

‡--बावा गोरपनाथ सिद्ध जोग आरिणीं उत्तर दिशा माँ धौली भागीरथी को स्नान छ वैणी हे माता वद्री केदार की यात्रा छ वैणी रुद्र हिवाल गुरु महादेव की धुनी छ वैणी हे माता जुसी मठ माँ पूपी नरसिंग औतार छ वैणी हे माता धउला उत्यारी गुरु गोरपनाथ को वासो छ हे वैणी।

×--अरधंगी देवी तारा तोतला सिधा गुरु गोरपनाथ...... ।

÷--श्री गोरपनाथ वीर भैराऊँ जिनमें हिंदू मुसलमान वालगुदाई से सहरथ लगाई लीया।

और कृष्ण हो सकते हैं। गांधी का यह व्यवहार और प्रयोगानुमोदित-संदेह अन्याय और अत्याचार के लिए खुली ललकार है।

परन्तु इसे गर्व और अहंकार को खुल कर खेलने के लिए निमंत्रण नहीं समझना चाहिए। उनमें झूठी मान-मर्यादा (प्रेस्टीज) का जरा भी विचार नहीं, जो नाममात्र के बड़े आदमियों से जरा जरा से पापों के छिपाने के लिए बड़े बड़े काम करवाती है। वे तो हिमाचलाकार गलतियों को स्वीकार करने में भी नहीं हिचकते। वास्तविक विनय की अनुभूति के साथ ही उसे सीखना और काम में भी लाना चाहिए। साम्राज्य को कँपा देनेवाली धमकी गांधी घुटने टेक कर देते हैं। जो अपने लाल की लाली में लाल होना चाहता है, परमात्मा के प्रेम में रँगकर स्वयं परमात्मा होना चाहता है, उसे पहले सर्वत्र लाल की लाली देखना, परमात्मा के दर्शन करना चाहिए+—अपने में ही नहीं, प्रत्येक जीव में चर और अचर में, अणु-परमाणु में। यह मुँह से कहना तो आसान है किंतु इसकी वास्तविक कठिनाई तब जान पड़ती है जब अपने भेजे की भूखी लाठी, खून की प्यासी तलवार, प्राणों की ग्राहक गोली तथा इनका प्रयोग करनेवाला विरोधी सामने होता है। इनमें भी परमात्मा के दर्शन कर सकना मानवता की सबसे बड़ी विजय है, जिसे गांधी जी ने सबके लिए आदर्श बतलाया है और जिसे उन्होंने अपने जीवन में सफलता के साथ उतारा है। यही सर्वग्राही प्रेम कबीर का बल था, यही गांधी का बल है। भौतिक शक्ति न उससे बर पाई, न इससे। प्रेम का क्षेत्र कुछ ऐसा विचित्र है कि उसमें पराजय भी विजय हो जाती है। क्योंकि पराजित प्रेम के अलक्ष्य प्रभाव का प्रतिरोध ही नहीं हो सकता।

गांधी का धर्म सब विशेषताओं और आडम्बरों से शून्य सरल धर्म है, जो सर्वदा और सर्वत्र एकरस रहता है। यदि कबीर के शब्दों में गांधी के धर्म का सार बतलाना चाहें तो कह सकते हैं—"साईं सेंती साँच रहु, औरां सूँ सुध भाइ।" परमात्मा में सच्ची लगन और प्राणिमात्र के साथ शुद्ध व्यवहार—यह धर्म का सार है। इसको काम में लाने के उपाय देश और काल की परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं, परन्तु यह मूलधर्म स्वयं बदल नहीं सकता। कबीर सब धर्मों में से पाखंड को हटाकर धर्म के इसी शुद्ध

+—लाली मेरे लाल की, जित देखूँ तित लाल।
लाली ढूँढ़न मैं चली, मैं भी हो गइ लाल॥

—कबीर

स्वरूप को लोगों के सामने रखना चाहते थे, और गांधी भी सब धर्मों के आवरण की ओर दृष्टिपात न कर इसी मूल तत्व की ओर दृष्टिपात करते हैं। इसी कारण सब धर्म और सब धर्म-प्रवर्तकों में उनकी श्रद्धा है। हिंदू-धर्म में उनकी विशेष श्रद्धा का कारण यह है कि वे उसी में इस सिद्धांत का पूर्ण प्रतिपादन पाते हैं। वह उनकी दृष्टि में सार्वभौम अथवा विश्व-धर्म है। गांधी जात-हिन्दू हैं सही, परन्तु उनकी आत्म-कथा से पता चलता है कि उन्होंने हिंदुत्व को अपने लिए फिर से ढूँढा है। हिन्दुत्व की जो विशेषता गांधी जी को हिन्दुत्व के क्षेत्र में रख सकी है वही जात-मुसलमान होने पर भी कबीर को हिन्दुत्व के क्षेत्र में खींच लाई थी। कबीर हिन्दू-भावनाओं और आदर्शों से इतने ओत-प्रोत थे कि मिस्टर विल्सन को यहां तक सन्देह हो गया कि हो-न-हो कबीर किसी हिन्दू-सुधारक का उपनाम मात्र है।

गांधी और कबीर दोनों कथनी और करनी में पूर्ण साम्य के समर्थक हैं। जो वे कहते हैं वही करते भी हैं। वे मन, वचन, और कर्म—सब में सामंजस्य बनाये रखते हैं। जीवन की वह शुद्धता जिसको वे लक्ष्य करते हैं, वाणी तक ही सीमित नहीं। वे उसे 'रहकर' दिखाते हैं। यही कारण है कि उनके विरोधी को भी उनकी सत्यता में अविश्वास नहीं होता और यही कारण है कि जगत् के कोने-कोने में उनकी सत्य-प्रसारक-वाणी श्रद्धा के साथ सुनी जाती है।

'मनस्यन्यद्वचस्यन्यद्' ने ही आज सब धर्मों को चौपट कर रखा है। सिद्धान्त रूप में तो सब परमात्मा की सर्वव्यापकता मानते हैं, सब में परमात्मा का अंश और सबको परमात्मा के सम्मुख बराबर समझते हैं, परन्तु जब सिद्धान्तों को कार्य में परिणत करने का अवसर आता है तब मनुष्य का आभिज्यात गर्व, अहंकार और अधिकार-मद ठेस खा कर व्याकुल हो उठता है और जो परमात्मा के सम्मुख बराबर हैं वे आदमी के सम्मुख ऊँच-नीच हो जाते हैं। हमारे सब दर्शनों का जन्म ही संसार-दुःख का अंत करने के उद्देश्य से हुआ है। परन्तु मनुष्य अपने व्यवहार से जिन विषमताओं अन्यायों और अत्याचारों का अन्त कर सांसारिक जीवन में यत्किंचित् शान्ति और सुख-संचार कर सकता है, दार्शनिक क्षेत्र का परमार्थ और व्यवहार-भेद कहनी और करनी-भेद का आवरण बनकर उसे भी नहीं होने देता। कबीर का पदानुसरण करते हुए गांधी ने इस स्थिति के निराकरण का प्रयत्न किया है। इसी ने दोनों को पददलित शूद्रों का बन्धु बनाया है। गांधी जी ने तो शूद्रों के अभ्युत्थान-यज्ञ में अपने प्राण ही होम दिये थे। उनके लिए वह एक सामाजिक सुधार मात्र नहीं एक पारमार्थिक कर्तव्य है, परमात्मा को प्रसन्न करने

का एक प्रधान उपाय है। शूद्रों के प्रति अन्याय करके हम परमात्मा की अप्रसन्नता के भाजन बन रहे हैं। बिहार और क्वेटा के भूकंप उनकी दृष्टि में इसी अप्रसन्नता के द्योतक हैं। अस्पृश्यता को वे हिन्दू जाति का कलंक मानते हैं। अछूत, अछूत नहीं हैं। उन्हें अछूत मान कर हम स्वयं अछूत बन रहे हैं।

इस प्रकार गांधी के हरिजन-आन्दोलन का आरंभ कबीर ने ही कर दिया था। कबीर के लिए हरिजन होने से बढ़कर जाति नहीं—'हरिजन सवीं न जाति।' इसलिए शूद्रों को उन्होंने हरिजन बनने का आदेश दिया। गांधी भी उन्हें हरिजन कहकर यही जता रहे हैं कि हरिजन का पद सब जातियों से ऊपर है। पर कबीर ने हरिजन शब्द को शूद्र का पर्याय नहीं बनाया है। सब शूद्रों को हरिजन न कहते हुए भी उन्होंने शूद्रों को नीच समझने के लिए हिंदुओं को खूब फटकारा है।

गांधी की दलित-हितैषणा कबीर से किसी प्रकार कम नहीं। वे प्राण-पण से शूद्रों की उन्नति करने में लगे हुए हैं, यह सर्वथा सिद्ध बात है। पर प्रश्न यह है कि शूद्रों को अपनी उन्नति के लिए दूसरों पर ही अवलम्बित रहना चाहिए अथवा उनके हृदय में भी बल उत्पन्न होना आवश्यक है। जो शूद्र हरि-भक्त नहीं है उसको भी आदमी की तरह रहने का अधिकार है या नहीं? मुझे तो ऐसा जान पड़ रहा है कि शूद्रों को हरिजन कह कह हम उनके हृदय में आत्म-सम्मान की जड़ काट रहे हैं। उनके मन में यह भाव बिठला रहे हैं कि शूद्र होना बुरा है। साथ ही ऐसा करने से हम उनकी दलितावस्था को अप्रति-कार्य बतला कर उनके भविष्य को नैराश्य से आच्छादित कर रहे हैं। वे जो कुछ हैं वहीं रहकर अन्य वर्णों के साथ महत्व का स्थान नहीं प्राप्त कर सकते! फिर भी दूसरा उपाय ही क्या है? महात्मा जी भी कहें तो क्या? हमारी कट्टरता की दृढ़ दीवारों को तोड़ कर उदारता का हमारे हृदय में प्रवेश होना सचमुच परमात्मा के ही चमत्कार से संभव हो सकता है। समस्या ही इतनी कठिन है। हरिजन शब्द की द्योतक शक्ति का ह्रास तो जो हुआ सो हुआ, डर तो यहाँ तक है कि इस नैराश्य से हरिजन-आन्दोलन के मूलोद्देश्य पर ही आघात न पड़े और शूद्र शब्द के पर्यायों में एक और बढ़ कर न रह जाय।

जात-मुसलमान होने के कारण कबीर को वर्ण-व्यवस्था का विशेष ज्ञान था। जिस व्यवस्था में शूद्रों के साथ ऐसा अन्याय होता है उसे उनकी दृष्टि में अवश्य ही हेय होना चाहिए। साथ ही उनका यह भी मत था कि वर्ण-व्यवस्था आध्यात्मिक महत्व से सर्वथा शून्य है। उसका ध्येय आदमी को केवल कर्मों पर तोलना है, जिससे सकाम कर्म बढ़ जाते हैं और आवागमन का

बन्धन दृढ़तर होता जाता है। इसीलिए उन्होंने क्षत्रियों को उद्दिष्ट करके कहा है—

खत्री करै खत्रिया धरमो, तिन कूं होय सवाया करमो।
जीवहिं मारि जीव प्रतिपारैं, देखत जनम आपनों हारैं॥

परन्तु गांधी का मत इससे भिन्न है। उनकी विचार-दृष्टि से देखें तो कबीर को उत्तर दिया जा सकता है कि फल से पेड़ पहचाना तो अवश्य जाता है, परन्तु यह न भूल जाना चाहिए कि उचित रक्षा, कर्षण और सिंचन के अभाव में कभी-कभी पेड़ और फल दोनों विकार-ग्रस्त हो जाते हैं। ऐसी दशा में उचित उपचार वृक्ष का समूल नाश कर डालना नहीं है, प्रत्युत विकार के कारणों को हटा कर विकार को हटाने का प्रयत्न करना है। गांधी जी तो यहाँ तक कहते हैं कि वर्ण-व्यवस्था सर्वत्र है परन्तु हिन्दू-धर्म ही उसे पूर्ण वैज्ञानिक स्वरूप दे सका है, जिसके कारण हमारे जीवन को भौतिक लक्ष्य की दृढ़ एकमुखता प्राप्त होती थी तथा भौतिक जीवन के अनिश्चय और संदेह से मुक्ति हो जाने के कारण आध्यात्मिक अन्वेषण के लिए कुछ अवकाश भी सुलभ हो जाता था।

वर्तमान की आवश्यकता है इस प्रशस्त व्यवस्था में घुसे हुए विकार को दूर करना। यह विकार दो कारणों से आया है। एक तो वर्ण, गुण-कर्म विभागशः निर्दिष्ट न होकर जन्म से निर्दिष्ट होने लगा है, जिससे व्यक्ति के लिए अपनी प्रवृत्ति के अनुकूल जीवन-मार्ग बन्द हो गया है। दूसरे वर्ण के साथ सामाजिक उच्चता-नीचता का सम्बन्ध हो जाने के कारण स्थिति और भी बिगड़ गई है। इससे लोगों की दृष्टि में परिश्रम का महत्व बहुत कुछ घट गया है।

जन-साधारण की दृष्टि में जाति से वर्ण का सम्बन्ध माना जाना बहुत कुछ स्वाभाविक भी है, क्योंकि गुण-कर्मों के निर्माण में परिस्थितियों का ही हाथ रहता है, और परिस्थितियां जन्म से ही अपना प्रभाव डालना आरम्भ कर देती हैं। इसीलिए आनुवंशी पेशों में व्यक्ति जो कौशल प्राप्त कर सकता है वह बाहरी पेशों में उसे कदाचित् ही मिले। परन्तु इस बात को भी न भूलना चाहिए कि जन्म से लेकर पड़नेवाले प्रभाव हमेशा माता-पिता के ही नहीं होते और जीवन में ऐसे भी प्रबलतर बाहरी प्रभाव पड़ सकते हैं जो माता-पिता के प्रभाव को मिटा डालते हैं। जाति से वर्ण का निर्णय यदि सामान्य नियम माना जाय तो उसमें अपवादों के लिए भी उदारता-पूर्ण स्थान होना चाहिए। दूसरे कारण के सम्बन्ध में इतना ही कहना काफी होगा कि

देखना चाहते हैं। परिश्रम का उनके मत में आध्यात्मिक महत्त्व है। वे नित्य नियमित रूप से चरखा काता करते हैं, और प्रत्येक मनुष्य को काम करता हुआ देखना चाहते हैं। इसीलिये वे कांग्रेस का चन्दा चवन्नी के बदले कुछ हाथ का कता सूत रखना चाहते हैं। उनका तो यहाँ तक कहना है कि दरिद्र भारत में परिश्रम ही परमात्मा है। भूखी हालत में परिश्रम का दूसरा रूप स्वीकार ही नहीं किया जा सकता। इसका सक्रिय स्वरूप उनके ग्रामोद्योग-सम्बन्धी नवीन आन्दोलनों में देखने को मिलता है। परमात्मा का आदेश है कि आदमी परिश्रम करके खाय। जो विना काम किये खाता है वह उनके मत में चोर है। कबीर का भी यही मत है। वे कहते हैं कि धंधे में ही लगा रहना तो जरूर जीवन को धूल बनाना है, परन्तु जो जीविकोपार्जन के लिए कोई धंधा नहीं करता वह भी धुल नहीं सकता, परमात्मा को नहीं पा सकता।

जो धंधै तो धूलि, विन धंधै धूलै नहीं।

कबीर स्वयं करघे पर कपड़ा बुना करते थे। महात्मा गाँधी का चरखा परिश्रम की आवश्यकता का ही द्योतक है। वह सब उद्योगों का प्रतीक है। स्वदेशी-आन्दोलन वस्त्र से आरम्भ हुआ है। इसलिये चर्खे का प्रतीक ग्रहीत होना स्वाभाविक ही था। फिर भी क्या यह आश्चर्यजनक संयोग नहीं कि गांधी जी के हाथ से राष्ट्रीय जीवन में तथा राष्ट्रीय पताका पर एक ऐसा प्रतीक प्रतिष्ठित हुआ जिसका कबीर के आनुवंशी पेशे से इतना घनिष्ट सम्बन्ध है? क्या गांधी के चरखे का कबीर के करघे से कोई सीधा लगाव है?

औद्योगिक उत्थान को गांधी वास्तविक सुखशांति का प्रसारक बनाना चाहते हैं। नामदेव और त्रिलोचन की जीवनी से कबीर ने जो शिक्षा प्राप्त की थी—

"हाथ पांव कर काम सब चित्त निरंजन नालि"*

---

*—त्रिलोचन एक महाराष्ट्री साधु थे। नामदेव की प्रशंसा सुनकर वे बड़ी उत्कंठा से उनके दर्शनों को गए। वहाँ जाकर देखा तो उन्हें छींट छापते हुए पाया। उन्होंने नामदेव से ग्लानि पूर्वक पूछा—

नामा माया मोहिया, कहै त्रिलोचन मीत।
काहे छापै छाइलै राम न लावै चीत॥

नामदेव ने इनका उत्तर निर्विकार रूप से दिया—

नामा कहै त्रिलोचना मुखौं राम सँभालि।
हाथ पांव कर काम सब चित्त निरंजन नालि॥

कबीर के ये दोहे आदि ग्रन्थ में संगृहीत हैं।

वह गांधी के हृदय में भी प्रतिष्ठित है। सत्य के प्रकाश के सम्मुख खुली रहने वाली उनकी आँखों को वर्तमान औद्योगिक सभ्यता की चकाचौंध चौंधिया नहीं सकती। चकाचौंध मात्र से कलों को स्वीकृति नहीं मिल सकती। वे तभी स्वीकार की जा सकती हैं जब मानव-जीवन में सुख और शान्ति की वृद्धि करने में अपनी व्यावहारिक उपयोगिता सिद्ध कर सकें। वर्तमान परिस्थिति में तो कलें मनुष्यों को पीसती हुई चल रही हैं। वर्तमान औद्योगिक सभ्यता में आत्मा को कोई स्थान ही नहीं। इसीलिए वह अग्राह्य है। चरखा और सीने की कलें भी कलें ही हैं, परन्तु वे इसीलिए ग्राह्य हैं कि उनके द्वारा मनुष्य की मनुष्यता, उसकी आध्यात्मिकता नष्ट नहीं होती। वे मानव जाति की सुखशांति में सहायक होती हैं।

गांधी की शांति-प्रसारक वाणी जगत् के कोने-कोने में पहुँच चुकी है। सारा जगत् आज उन्हें एक स्वर से इस युग का सबसे बड़ा महापुरुष मानता है। मुँह से कहने में चाहे कोई हिचके, परन्तु रक से लेकर सम्राटों तक के हृदय में उनके प्रति अटूट श्रद्धा अंकित है। कबीर का नाम भी झोपड़ियों से लेकर महलों तक में अत्यन्त आदर के साथ लिया जाता है। इसका कारण यह है कि दोनों भारतीय आध्यात्मिकता के सच्चे प्रतिनिधि हैं। भारत अग्र-जन्माओं का देश है, जो अपने चरित्र से संसार को शिक्षा देते रहे हैं। भारत का यह अग्रजन्मत्व पांच शताब्दी पहले कबीर के रूप में प्रकट हुआ था और आज गांधी के रूप में प्रकट हुआ है। परमात्मा की जो विभूति, मानवता का जो महत्त्व पन्द्रहवीं शताब्दी में कबीर कहलाया, वही आज गांधी है। केवल आवरण का भेद है, तथ्य का नहीं।

यदि कबीर अपनी ही कविता के समान, सीधी-सादी भाषा में उल्लिखित आदर्श हैं, तो गांधी उसकी और भी सुबोध क्रियात्मक व्याख्या। यदि प्रत्येक व्यक्ति इस विशद व्याख्या की प्रतिलिपि बन सके तो जगत् का कल्याण हो जाय।

आचार्य कवि केशवदास

प्रयोजन

निर्गुण भक्ति ने विदेशी अत्याचार के नीचे पिसती हुई जनता के हृदय की नैराश्यजन्य शुष्कता को कविता के क्रोड़ में संचित कर दिया था। कबीर की तल्लीनता यद्यपि सरस्वती की वीणा की झंकार की मधुरता को समय समय पर बलात् उनकी जिह्वा पर लाकर बैठा देती थी, फिर भी उनके पीछे बहुत दिन तक यह बात न चल सकी। परंपरा, संप्रदायों का प्रवर्तन कर सकती है पर कविता को अपने आँचल में बाँध नहीं ले जा सकती। परंपरा के पालन के लिए कही गई साखियों या शब्दों में न कविता का अंतरंग आ पाया और न बहिरंग। और आ भी कैसे सकता था? कविता का अंतरंग या आत्मा भावों की तीव्रता है जिनका उद्भव हृदय की तल्लीनता के बिना असंभव है। और वैसे तो बहिरंग सौंदर्य अंतरंग सौंदर्य का अनुसरण करता है पर कभी-कभी स्वाभाविक बाह्य सौंदर्य की वृद्धि के लिये बाहरी उपाय भी काम में लाये जाते हैं। इसके लिये साहित्यशास्त्र का ज्ञान अपेक्षित है। इन दोनों बातों से ये 'निर्गुनिए' साधु कोरे होते थे। न उनमें भावुकता होती थी और न पांडित्य ही। अधिक से अधिक मूल्य मानने पर उनकी वाणियाँ रूखी-सूखी भाषा में लिखे गये दर्शनग्रंथ-मात्र कहे जा सकते हैं जिनका एक मात्र उद्देश्य वैराग्योत्पादन था, (यद्यपि दार्शनिक भी उनके दर्शन ग्रंथ कहे जाने पर आपत्ति कर सकते हैं।) इसलिये वे तभी तक जनता को आकर्षित कर सकते थे जब तक उसे जीवन अप्रिय लगता रहा। परन्तु जब मुगलों ने भारतवासी होकर भारत पर शासन करना आरम्भ किया और लोगों को जीवन की सामान्य आवश्यकताओं के उपकरण उपलब्ध होने लगे तब यह स्वाभाविक था कि इन फीकी बातों से हटकर उनकी रुचि सरसता और सुन्दरता की ओर झुकती। समय की इसी प्रवृत्ति ने साहित्य-क्षेत्र में एक ओर सगुण भक्ति का और दूसरी ओर साहित्य शास्त्र-चर्चा का वह प्रवाह चलाया जिसे किसी उपयुक्त नाम के अभाव में रीति-प्रवाह कह सकते हैं। सूर, तुलसी आदि सगुण भक्त कवियों ने वैराग्य-विमोहित

कविता में अंतरात्मा को फूंकने का प्रयत्न किया और रीति के आचार्य उसके बहिरंग को सँवार कर उसका ठाटबाट खड़ा करने में यत्नवान हुए। आगे चल कर मुगल दरबार की बढ़ती हुई शानो-शौकत तथा ऐशो-इश्रत ने, जिसकी नकल करने में भारतीय राजाओं ने आपस में स्पर्द्धा दिखाई, केशवदास-द्वारा प्रवर्तित रीति-प्रवाह को इतनी उत्तेजना दी कि भक्ति-प्रवाह थम सा गया और साहित्य-क्षेत्र में रीति प्रवाह का ही साम्राज्य हो गया यद्यपि स्वयं केशव ने भी भक्ति-प्रवाह में कुछ योग दिया था।

केशव को रीति-प्रवाह का प्रवर्तक कहने से हमारा यह तात्पर्य नहीं कि हिंदी में उन्होंने पहले पहल साहित्य-शास्त्र पर कलम चलाई।

आचार्यत्व

उनसे पहले भी साहित्य-शास्त्र के अंगों पर ग्रंथ लिखे जा चुके थे। हिंदी साहित्य के इतिहास में पुष्य नामक कवि सबसे पहला कवि समझा जाता है। शिवसिंह सेंगर ने ७०० विक्रमाब्द में इसका होना लिखा है। कहते हैं, उसने अलंकार पर ही अपना ग्रंथ लिखा था जो अब मिलता नहीं। गोप कवि ने भी अलंकार के दो छोटे-छोटे ग्रंथ लिखे थे पर वे भी अप्राप्य हैं। हिंदी-साहित्य-शास्त्र सम्बन्धी सबसे पुरानी प्राप्य पुस्तकें मोहन का शृंगार-सागर और कृपाराम की हिततरंगिनी हैं जो अकबर के राजत्वकाल में रची गईं थीं। इसी समय के लगभग रहीम ने बरवै छंदों में 'नायिकाभेद' लिखा और कर्णेश ने कर्णाभरण, श्रुतिभूषण और भूपभूषण तीन छोटे-छोटे ग्रंथ लिखे। हिततरंगिणी में अत्यंत संक्षेप में रस का निरूपण है, शृंगारसागर में केवल शृंगार रस का वर्णन है और कर्णेश के ग्रंथ अलंकार पर हैं। स्वयं केशव के बड़े भाई बलभद्र ने नखशिख और दूषण विचार पर लिखा था। परन्तु ये सब उथले और क्षीण प्रयत्न थे और लोकरुचि के परिवर्तन की दिशा के संकेतक होने पर भी साहित्य-शास्त्र के लिये विस्तीर्ण और अप्रतिबंध मार्ग न खोल सके। इस दिशा में सबसे पहला विस्तृत और गंभीर प्रयत्न केशव ही का था और यद्यपि उनके मत को हिंदी में साहित्य-शास्त्र पर लिखनेवालों ने आधार रूप से नहीं ग्रहण किया, फिर भी उन्होंने लोगों की प्रवृत्ति को एक विशेष दिशा की ओर पूर्णतया मोड़ दिया। इसीलिये वे रीति-प्रवाह के प्रवर्तक और प्रथम आचार्य माने जाते हैं। वे केवल लेखनी के ही मुँह से बोलनेवाले आचार्य नहीं थे, व्यावहारिक आचार्य भी थे। अपनी शिष्या प्रवीणराय के प्रतिनिधित्व से उन्होंने कवि-समुदाय को कविता के वाह्यरूप की बनावट सिखाने का काम अपने हाथ में लिया था, और उस काम को करने के लिये वे सर्वथा योग्य भी थे। आचार्य में जिन

गुणों का होना आवश्यक है वे सब केशव में वर्तमान थे। वे संस्कृत के भारी पंडित थे, साहित्य शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता थे, विद्वान् थे, प्रतिभासंपन्न थे और इंद्रजीतसिंह के मुसाहिब, मंत्री और राजगुरु होने के कारण ऐसे स्थान पर भी थे जहां से वे लोगों में अपने लिये आदर-बुद्धि उत्पन्न कर सकते और अपने प्रभाव को बहुत गुरु बना सकते थे। केशव की ६ पुस्तकों में से रामालंकृतमंजरी, कविप्रिया और रसिकप्रिया साहित्य-शास्त्र से संबंध रखती है। रामालंकृतमंजरी पिंगल पर लिखी गई है, कविप्रिया अलंकार ग्रंथ है और रसिकप्रिया में रस नायिकाभेद, वृत्ति आदि बातों पर विचार किया गया है। रामालंकृतमंजरी अभी छपी नहीं है। कहते हैं, उसकी एक हस्त-लिखित प्रति ओड़छा दरबार के पुस्तकालय में है।

जहां तक सम्भव होता है हिंदी सभी विद्याओं के लिए संस्कृत की ओर मुड़ती है, यह उसका दायाधिकार है। केशव ने भी हिंदी साहित्यशास्त्र के उत्पादन में अपने संस्कृत ज्ञान से लाभ उठाया। केशव का समय संस्कृत साहित्य-शास्त्र के इतिहास का वह युग है जिसमें संकलन और संश्लेषण का क्रम जोरों पर था। प्राचीन रसमार्ग आलंकारिकों और रीतिमार्गियों के प्रचंड आक्रमणों को सहकर भी मम्मट आदि नवीन रसमार्गियों के प्रयत्न से अपने उचित स्थान पर प्रतिष्ठित हो गया था। ध्वनिमार्ग आगे चलकर उसकी प्रतिद्वंद्विता में खड़ा हुआ था पर वह भी उसका पोषक बन बैठा था। यद्यपि रस के वास्तविक स्वरूप के विषय में अप्पय दीक्षित और पंडितराज जगन्नाथ के वाद-विवाद के लिए अभी स्थान था पर फिर भी शास्त्रकारों ने यह निश्चित कर लिया था कि काव्य में सारभूत अंतरंग वस्तु, रस है और अलंकार, रीति और ध्वनि अपनी शक्ति के अनुसार उसके सहायक हैं, विरोधी नहीं, और न्यूनाधिक रूप से सभी का काव्य से स्थायी संबंध है। अतएव साहित्य-शास्त्रकार अब विरोधी मतों से बहुत कुछ विरोधी अंश निकालकर साहित्य-शास्त्र के भिन्न-भिन्न अंगों के सामंजस्य से एक पूर्ण पद्धति बना रहे थे। विश्वनाथ का साहित्य-दर्पण और उसके समान अन्य ग्रंथ इसी प्रयत्न के फल थे। वैसे तो कवित्व शक्ति ईश्वरीय देन है; कहा भी है कि कवि जन्म से होता है बनाने से नहीं, पर साहित्य शास्त्र के नियम बन जाने पर उन लोगों को भी कवि बनने का चस्का लगने लगा जो सहज कवि न थे। ऐसे लोगों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए आचार्यों ने विषयों का भी वर्गी-करण कर दिया कवि को किन किन विषयों पर कविता करना चाहिए किन पर नहीं, उनमें क्या क्या अनुभव होने चाहिएं आदि बातें उनके

अभ्यास के लिए लिखी गई। इस प्रकार कवि-शिक्षा पर लिखा जाने लगा। केशव इन्हीं पिछले ढंग के आचार्यों में हैं। संस्कृत से चली आती हुई इसी परम्परा को उन्होंने हिंदी में जारी रखा।

केशवदास ने कवि-शिक्षा का विषय कोट काँगड़ा के राजा माणिक्यचंद्र के आश्रय में रहनेवाले केशव मिश्र के अलंकारशेखर नामक ग्रंथ के वर्णक रत्न (अध्याय) से लिया है। अलंकार-शेखर कविप्रिया के कोई ३० वर्ष पहले लिखा गया होगा। इसके वर्णक रत्न में केशव मिश्र ने उन विषयों का वर्णन किया है जिन पर कविता की जानी चाहिए यथा भिन्न-भिन्न रंग, नदी, नगर, सूर्योदय, राजाओं की चर्या आदि। केशवदास ने इन विषयों को वर्णालंकार और वर्ण्यालंकार इन दो भागों में बाँटा है। वर्णालंकार के अंतर्गत भिन्न-भिन्न रंग लिए गए हैं और शेष वर्णनीय विषय वर्ण्यालंकार में हैं। अलंकार शब्द का यह विलक्षण प्रयोग है। शास्त्रीय शब्द अलंकार के लिए केशवदास ने विशेषालंकार शब्द का व्यवहार किया है। इस प्रकार केशव ने अलंकार का अर्थ विस्तृत कर दिया जिसके वर्णालंकार, वर्ण्यालंकार और विशेषालंकार तीन भेद हो गए। विशेषालंकारों अर्थात् काव्यालंकारों के विषय में केशवदास ने विशेष कर दंडी का अनुसरण किया है। अन्याय के अध्याय काव्यप्रकाश से लिये गए हैं। कहीं-कहीं राजानक रुय्यक से भी सामग्री ली गई है। विषय-प्रतिपादन के साधारण ढंग को सामयिक परंपरा से प्राप्त करने पर भी प्रधान अंगों पर बहुत पुराने आचार्यों का आश्रय लेने का फल यह हुआ कि रस की मिठास का मूल्य अलंकारों की झनझनाहट के सामने कुछ न रह गया। साहित्य-शास्त्र के साम्राज्य में रस को पदच्युत होकर अलंकार की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी और रसवत् अलंकार के रूप में उसका छत्रवाहक होना पड़ा। पुराने रीतिमार्गी आचार्य इतनी दूर तक नहीं गए थे। वे रसवत् अलंकार वहीं मानते थे जहाँ एक रस दूसरे रस का पोषक होकर आवे किंतु केशव की व्यवस्था के अनुसार जहाँ कहीं रसमय वर्णन हो वहीं रसवत् अलंकार हो जाता है। सूक्ष्म-भेद-विधान की ओर केशव ने बहुत रुचि दिखलाई है। उन्होंने उपमा के बाइस और श्लेष के तेरह भेद बताए हैं। केवल संख्या-वृद्धि के उद्देश्य से भी कुछ अलंकार ऐसे रखे गए हैं जिन्हें शास्त्रीय अर्थ में अलंकार नहीं कह सकते, जैसे प्रेमालंकार और ऊर्जालंकार। जहाँ प्रेम का वर्णन हो वहाँ प्रेमालंकार और जहाँ और सहायकों के कम हो जाने पर भी अलंकार बना रहे वहाँ ऊर्जालंकार। प्रेम के वर्णन से काव्य की शोभा बढ़ सकती है पर वह अलंकार नहीं हो सकता। गाल की नैसर्गिक गुलाबी सौंदर्य को बढ़ा सकती है पर आप

साथ गुथा हुआ एक पुष्प, फूलों का एक गजरा या मोतियों की एक लड़ी या और कोई स्वल्प आभरण ललना के लावण्य को बढ़ा सकता है पर यदि उसके नाक, कान फोड़कर या उसे सुफेद अथवा पीली धातु या रंग-बिरंगे पत्थरों से लादकर यह प्रभाव लाया चाहो तो कैसे बन सकता है ? कहने का तात्पर्य यह है कि साध्य को साधन के लिये बलिदान नहीं कर देना चाहिए ।

बहिरंग के लिए अंतरात्मा के बलिदान की सब से बड़ी आशंका तब होती है जब लक्षणकार स्वयं कवि बन बैठता है । साहित्य-शास्त्र कविता का व्याकरण है । कविता ही उसकी सृष्टि का कारण है । अतएव उसे कविता का अनुगमन करना चाहिए, उसका अग्रगामी नहीं बनना चाहिए । लक्षणकार का कर्तव्य है कि वह अपने लक्षणों के उदाहरण कविता के साम्राज्य से ढूंढ़-ढूंढ़ कर प्रस्तुत करे, उसे अपने आप उन्हें गढ़ने का जबर्दस्ती प्रयत्न न करना चाहिए : मनुष्य-शरीर के पार्थिव तत्वों का विश्लेषण किया जा सकता है परन्तु वह रासायनिक विश्लेषक यदि चाहे कि उन तत्वों के मेल से जीता-जागता मनुष्य खड़ा करदे तो यह असंभव है, इसके लिए परमात्मा ने दूसरी ही प्रयोग-शाला बनाई है । साहित्यशास्त्र के नियम भी कविता के विश्लेषण के परिणाम हैं । उनके ही आधार पर कविता का ढांचा भर खड़ा किया जा सकता है जो कितना ही सुन्दर क्यों न हो आखिर निर्जीव ढांचा ही तो है । केशवदास ने अपने लक्षण ग्रंथों में कुछ स्वतंत्र चिन्तन और समन्वय-बुद्धि का परिचय दिया है परन्तु जबर्दस्ती स्वयं ही उदाहरण गढ़ने का एक ऐसा आदर्श उन्होंने अपने अनुयायियों के सामने रखा जिससे साहित्य-शास्त्र और काव्य-साम्राज्य दोनों का अहित हुआ । आचार्य लोग साहित्य के विश्लेषण से नवीन नियमों का अन्वेषण कर उसके रहस्यों के उद्घाटन का कार्य छोड़कर उदाहरण ही गढ़ने में अपनी शक्ति व्यय करने लगे । इससे साहित्यशास्त्र में तो कोई उन्नति न हुई, हाँ, कविता के भांडार में असली के साथ साथ नकली सिक्के खूब भर गए, वहाँ की बात ही दूसरी है जहाँ सामयिक लहर में पड़कर कवियों को लक्षणकार बनना पड़ा ।

केशव की रचनाएँ लक्षणों और उदाहरणों में ही समाप्त नहीं हो जातीं। ऊपर कहे गए लक्षण-ग्रंथों के अतरिक्त उन्होंने और चार ग्रंथों की रचना की । रामचन्द्रिका, जहाँगीर-जस-चंद्रिका, वीरसिंह-देवचरित और विज्ञानगीता । जहाँगीर-जस-चंद्रिका और वीरसिंह-देव-चरित क्रमशः जहाँगीर और वीरसिंहदेव की प्रशंसा में लिखे गए हैं । विज्ञानगीता एक प्रकार से क्षीणप्राय निर्गुण भक्ति का ही विरक्ति

कवित्व

प्रभावात्मक चमत्कार है । रामचंद्रिका केशव की सबसे उत्कृष्ट रचना है पर उसकी रचना भी ऐसी मालूम होती है कि मानों भिन्न भिन्न लक्षणों के उदाहरण-स्वरूप रचे गए पदों का क्रमवार संग्रह हो । छन्दों तक के उदाहरण उसमें मिलते हैं । छंदों की ओर दृष्टि डालने से तो यह पिंगल का सा ग्रंथ मालूम पड़ता है । आदि से एकाक्षरी से लेकर कई अक्षरों तक के छंदों का क्रमशः एक ही स्थान पर मिलना इस विचार को पुष्ट करता है कि ये न हो केशव रामचंद्रिका के पहले पिंगल ही का ग्रंथ बना रहे थे, परन्तु पिंगल की संभावनाओं तथा रामचरितमानस के प्रभाव से योग देने की इच्छा से उन्होंने यह रूप दे डाला जो हमें आज पढ़ने को मिलता है । रामालंकृतमंजरी केशव का बनाया हुआ एक पिंगल ग्रंथ है, यह हम कह चुके हैं । रामचंद्रिका की कुछ हस्त-लिखित प्रतियों में कुछ छंदों के नीचे यथा 'रामालंकृत-मंजरी' लिखकर उन छंदों के लक्षण दिये हैं । संभव है रामचंद्रिका, रामालंकृतमंजरी का परिवर्तित या परिवर्धित रूप हो या ये छंद रामालंकृतमंजरी से लिए गए हों । रामचंद्रिका के बहुत से छंद कविप्रिया में भी उदाहरण-स्वरूप दिए गए हैं । रामालंकृतमंजरी का समय तो ज्ञात नहीं पर यदि कविप्रिया और रामचंद्रिका का समय ज्ञात न होता तो हमारी यही कहने की प्रवृत्ति होती कि यह ग्रंथ भिन्न भिन्न लक्षण ग्रंथों से संकलित कर संगृहीत किया गया है ।

बाबा वेणीमाधवदास ने अपने मूल गुसाईंचरित में लिखा है कि एक बार केशवदास जी तुलसीदास जी से मिलने गए, पर वे तुरन्त ही उनके स्वागत के लिये न आ सके । केशव जी समझे कि इन्हें रामचरितमानस रचने का बड़ा गर्व हो गया है, उसे दूर करना चाहिए । उलटे पाँवों वापिस आकर उन्होंने एक ही रात में रामचंद्रिका बनाकर तुलसीदासजी को दिखा दी । रामचंद्रिका सरीखे बृहद्ग्रंथ को एकही रात में नकल कर डालना भी असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है, उसे रचने की बात तो दूर रही । क्या यह प्रकारांतर से यह सूचित करने के लिए तो नहीं कहा गया है कि रामचन्द्रिका एक संग्रह ग्रंथ मात्र है । गम्भीर प्रकृति के लोगों को यह सब निरर्थक प्रलाप मालूम होगा । इसके बल पर हम यह भी नहीं कहना चाहते कि अवश्य ही रामचन्द्रिका लक्षणों के उदाहरणों का संग्रह है, पर इतना अवश्य है कि रामचंद्रिका को लिखते समय केशव की आँखों के सामने वे लक्षण सर्वदा बने रहते थे जिन्हें उन्होंने आगे चलकर ग्रंथ रूप में प्रकट किया । इसीसे रामचन्द्रिका में भी कविता का आभ्यंतर कम आ पाया है । कविता के अन्तरंग

और बहिरंग का उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। कवि के साधन की ओर दृष्टि रखकर इन्हीं को 'हृदय-पक्ष' 'कला-पक्ष' कहा जाता है। हृदय का सम्बन्ध हमारे रागों या भावों से है और कला बुद्धि की उपज है।

हिंदी में सच्ची आलोचना के प्रवर्तक श्रद्धेय गुरुवर पंडित रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार 'कविता' वह साधन है जो सारी सृष्टि से हमारा रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है। यह काम न गढ़े हुए उदाहरणों, या फर्मायशी पद्यों से हो सकता है और न चाटुकारी के लिए की गई झूठी प्रशंसा से। हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि लक्षणों के उदाहरण रूप में या राजाओं की तारीफ में उत्कृष्ट काव्य हो ही नहीं सकता। यह इस बात पर निर्भर है कि रचयिता के रागों का अपने वर्ण्य विषय से कितना घना सम्बन्ध है। भूषण का शिवराजभूषण भी अलंकार ग्रंथ है और एक राजा की प्रशंसा में लिखा गया है। फिर भी भूषण का काव्य उत्कृष्ट काव्य है, क्योंकि भूषण की प्रशंसा झूठी प्रशंसा नहीं है। केशव की शब्दावली का व्यवहार करें तो उनकी 'सत्यभाषिणी मति' है। यह मतलब नहीं कि कवि बिलकुल सच बोले। कवि-सत्य साधारण या वास्तविक सत्य नहीं होता, हार्दिक सत्य होता है। जिस बात को कवि सत्य समझता है, चाहे वह झूठ ही क्यों न हो, इस प्रकार कहना कि श्रोता भी उसे ठीक उसी भाव में समझ जाय जिस भाव में कवि समझता है, अर्थात् उसमें उसकी वृत्ति रम जाय, कवि-सत्य कहाता है। परन्तु यह बात तब तक नहीं हो सकती जब तक स्वयं कवि की वृत्ति उसमें न रमी हो, जब तक स्वयं उसे अपने कथन की सत्यता पर अटल विश्वास न हो। कवि को जब किसी बात की सत्यता में पूर्ण विश्वास हो जाता है तब उसकी मांगलिकता का, उसके सौंदर्य का, उसके आनन्द का वह स्वयं अकेला ही उपभोग नहीं कर सकता क्योंकि वह स्वार्थी नहीं होता। वह चाहता है कि सारा संसार उसके आनन्द को बाँटकर बढ़ावे, और जब तक वह उस सत्य के संदेश को कह नहीं डालता तब तक उमंग का एक बोझ उसके हृदय पर पड़ा रहता है, जो उसे चैन नहीं लेने देता। यही बेचैनी कवि की वाणी को वह अबाध प्रवाह, वह अप्रतिहत गति देती है जो सीधे श्रोता या पाठक के अन्तस्तल में पहुँचकर वहाँ भी उथल पुथल मचा देती है। भूषण के दिल में ऐसी ही बेचैनी थी। १८,००,००० की थैली, १८ हाथी और १८ गाँव पाने की नीयत से उसने अपना 'इन्द्र जिमि जंभ पर बाड़व सुअंभ पर' वाला कवित्त नहीं कहा था, बल्कि अपने दिल के गुबार बाहर निकालकर उसे हल्का करने के लिए, हिंदुत्व के संदेश

को जन साधारण के दिल को गहराई तक पहुंचाने के लिए, उसकी रक्षा के सत्य स्वरूप को प्रत्यक्ष करने के लिए। शिवाजी और भूषण को अलग अलग व्यक्ति नहीं समझना चाहिए। वे एक ही घटनावली के दो पक्ष थे। हिन्दुत्व की प्रदीप्त आत्मा कर्म-क्षेत्र में शिवाजी और भावना क्षेत्र में भूषण के रूप में जाज्वल्यमती हुई। भूषण भावना-क्षेत्र के शिवाजी थे, और शिवाजी कर्म-क्षेत्र के भूषण परन्तु क्या केशव के विषय में ऐसी कोई बात कही जा सकती है ? क्या उसमें वह बेचैनी नजर आती है, क्या वह रागात्मक तल्लीनता दिखाई देती है जिसके कारण भूषण का काव्य उच्च कोटि के काव्य में परिगणित होने के योग्य हुआ है ? 'अपयश की गोली' खिलाने योग्य बीरबल, केशव को ६,००,००० का दान देने पर, उसी दम ऐसे यश का भागी हो जाता है कि उनके दान के प्रभाव से—

भूलि गयो जग को रचना चतुरानन बाय रह्यो मुख चारयो।

इन्द्रजीत की भी उन्होंने इसलिये प्रशंसा नहीं की कि उनमें कुछ ऐसे गुण थे कि जिनके कारण कवि का मन उमंगित होता है और उसके हृदय में सद्भावनाएँ उद्दीप्त होती हैं किंतु इसलिए कि उनके

'राज केसौदास राज सो करत है।'

केशवदास राजा की तरह रहते थे, यह सुनकर आजकल के अपुरस्कृत कवियों के दिल से 'आह' भले ही निकल जाय पर इंद्रजीतसिंह अथवा वीरसिंह-देव के साथ जनसाधारण के चित्त का कोई रागात्मक सम्बन्ध नहीं जुड़ सकता, जब कि शिवाजी उद्भट योधा, निर्बलों के रक्षक और स्वतंत्रता के उपासक होने के कारण बलात् चित्त की वृत्तियों को अपनी ओर खींच लेते हैं। यही कारण है कि वीरसिंहदेव-चरित और जहाँगीरजसचंद्रिका के नाम साहित्य के इतिहास-ग्रंथों में ही मिलते हैं। रामचंद्रिका का पठन पाठन भी इने गिने धुरंधर पंडितों तक ही परिमित रहा। रामचंद्रिका के आज बहुत से प्रशंसक मिल सकते हैं परन्तु उन्हें यदि जरा टटोल कर देखिये तो यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि वे रामचंद्रिका का नाम ही नाम जानते हैं, (किसी परीक्षा के लिए विवश होकर पढ़नी ही पड़ी हो तो बात दूसरी है) । रामचंद्रिका का नाम रामकथा की महिमा से हुआ है; केशव की कविता की हृदयस्पर्शिता से नहीं। संक्षेप में, केशव के काव्य में हमें रागात्मक तत्व बहुत थोड़ा मिलता है।

इसका कारण यह जान पड़ता है कि उनका निरीक्षण बहुत परिमित था, उन्होंने देखने का प्रयत्न ही नहीं किया। मनुष्यजीवन तो उनकी आँखों में

कुछ पड़ भी गया था पर प्रकृति में अंतर्हित जीवन का स्पंदन वे नहीं देख पाये। मनुष्य जीवन की भिन्न-भिन्न दशाओं में जहाँ उनकी दृष्टि गई है वहाँ उनकी भावुकता भी जाग्रत हो गई है। कुछ उदाहरण यहाँ दिए जाते हैं—

उसके सुख को देखकर जलनेवाली सौत को और जलाने की कौशल्या की यह इच्छा कितनी स्वाभाविक है,

रहो चुप ह्वै सुत क्यों वन जाहु
न देखि सकैं तिनके उर दाहु;

और जो नासमझी और चारित्रिक निर्बलता के कारण अपने ही प्रिय का अपकारी बन जाय ऐसे आदरणीय के प्रति भी यह उपेक्षा और झुँझलाहट भी—

लगी अब बाप तुम्हारेहिं बाइ।

किसी अपने ही मुँह से अपनी तारीफ करनेवाले की गर्वोक्तियाँ सुनकर दिल में खुदबखुद तानेजनी की जो उमंग उठती है उसे परशुराम के प्रति भरत के इस कथन में देखिए—

हैहय मारे नृपति सँहारे सो यस लै किन युग युग जीजै।

दूसरे प्रकार के प्रसंग में यही भाव मैथ्यूआर्नल्ड ने इस प्रकार प्रकाशित किया है—

टेक हीड लेस्ट मेन शुड से
लाइक सम ओल्ड माइज़र, रुस्तम होर्ड्स हिज़ फ़ेम
एंड शंस टु पेरिल इट विद यंगर मेन।

प्रभाव प्रकारांतर से दोनों का एक ही पड़ता है। भड़काने का यह अच्छा तरीका है।

भय और लज्जा से मनुष्य किस प्रकार सिकुड़ जाता है, वह रावण के सामने सीता की उस दशा में दिखाया गया है जिसमें उन्होंने

सर्व अंग लै अंग ही में दुरायो।

मनुष्य पर जब घोर आपत्ति आती है तब वह पागल सा हो जाता है। वियोग भी ऐसी ही आपत्ति है, जिसमें वियुक्त अपनी सुध-बुध भूल जाता है, अपनी परिस्थिति को नहीं देखता, कंकड़ पत्थर से भी प्रश्न करके उत्तर की प्रतीक्षा करता है। परन्तु यह पागलपन मानसिक अव्यवस्था का फल नहीं होता बल्कि प्रियाभिमुख अत्यंत सजग राग का निकास है। हनुमान राम की

मुद्रिका साथ ले आए थे जिसको दिखाकर उन्होंने सीता को विश्वास दिलाया कि मैं राम का ही दूत हूँ। उस मुंदरी के प्रति सीता जी के इस भावपूर्ण कथन में भी यही बात देखने को मिलती है—

श्रीपुर में वन मध्य हौं, तू मग करी अनीति ;
कहि मुँदरी अब तियन की को करिहै परतीत ?
कहि कुशल मुद्रिके ! रामगात...............

परन्तु यह निरीक्षण भी इतना पूर्ण नहीं था कि बहुत दूर तक केशव की सहायता कर सकता। कई मर्मस्पर्शी घटनाओं का भी उन्होंने ऐसा वर्णन किया है जिससे मालूम होता है कि मनुष्य की मनोवृत्तियों को वे बहुत ही कम समझ पाए थे। यहाँ पर एक ही उदाहरण देंगे।

रामचंद्र कपट मृग को मारने गए थे। 'हा लक्ष्मण' शब्द सुनकर सीता ने सोचा कि राम लक्ष्मण को, सहायता के लिये, बुला रहे है पर लक्ष्मण ने सीता को अकेला छोड़ना ठीक नहीं समझा तब

"राजपुत्रिका कह्यो सो और को कहै, सुनै।"

लक्ष्मण को जाना पड़ा। वे सीता को अभिमंत्रित रेखा के बाहर आने की मनाही कर चले गए। कपटयोगी रावण को भिक्षा देने के लिए सीता ने लक्ष्मण की शिक्षा का उल्लंघन किया और फलस्वरूप वे रावण द्वारा हरी गईं। तब वे बिलखने लगीं—

हा राम, हा रमन, हा रघुनाथ धीर ।।
लंकाधिनाथ बश जानहु मोहि बीर ।।
हा पुत्र लक्ष्मण छोड़ावहु बेगि मोहि ।
मार्तंडवंश यश की सब लाज तोहि ।।

यदि केशवदास मनोवृत्तियों से परिचित होते तो इस अवसर पर इस अपील में उनकी सीता अपना हृदय खोलकर रख देतीं; अपनी निस्सहाय अवस्था का जिक्र करतीं, अपने हर्ता की क्रूरता का जिक्र करतीं, उसे कोसतीं, केवल लंकाधिनाथ कहकर न रह जातीं; लक्ष्मण को बुरा-भला कहने तथा उनका आदेश न मानने के लिए अपने आपको धिक्कारतीं, अपने पर व्यंग छोड़तीं। पर इस तार खबर में क्या है ? और कहाँ तक आत्मीयता झलकती है ? 'रमन' और 'पुत्र' को छोड़कर कौन बात ऐसी है जिसको आपत्ति में पड़ी हुई स्त्री दूसरे के प्रति नहीं कह सकती ? पर कई ऐसे स्थल तो उन्होंने साफ छोड़ दिये हैं।

मनुष्यजीवन के अन्दर तो उनकी अंतर्दृष्टि कुछ दिखाई भी देती है पर प्रकृति के जितने भी वर्णन उन्होंने दिए हैं वे प्रकृति-निरीक्षण का जरा भी परिचय नहीं देते। क्लिष्टता की दृष्टि से लोग उनकी तुलना मिल्टन से करते हैं। मिल्टन से उनकी इतनी और समानता है कि उन्होंने भी प्रकृति का परिचय कवि-परम्परा से पाया है। मिल्टन लावा (लार्क) पक्षी को खिड़की पर ला बैठाते हैं तो ये कहीं बिहार की तरफ विश्वामित्र के तपोवन में—

एला ललित लवंग संग पुंगीफल सोहैं।

कह चलते हैं। मालूम होता है कि प्रकृति के बीच वे आँखें बन्द करके जाते थे, क्योंकि प्रकृति के दर्शन से प्रकृत कवि के हृदय की भाँति उनका हृदय आनन्द से नाच नहीं उठता। प्रकृति के सौंदर्य से उनका हृदय द्रवीभूत नहीं होता। उनके हृदय का वह विस्तार नहीं है जो प्रकृति में भी मनुष्य के सुख-दुःख के लिये सहानुभूति ढूँढ़ सकता है, जीवन का स्पंदन देख सकता है, परमात्मा के अंतर्हित स्वरूप का आभास पा सकता है। फूल उनके लिए निरुद्देश्य फूलते हैं, नदियाँ बेमतलब बहती हैं, वायु निरर्थक चलती है। प्रकृति में वे कोई सौंदर्य नहीं देखते, बेर उन्हें भयानक लगती है, वर्षा काली का स्वरूप सामने लाती है और उदीयमान अरुणिमामय सूर्य कापालिक के शोणित भरे खप्पर का स्वरूप उपस्थित करता है। प्रकृति की सुन्दरता केवल पुस्तकों में लिखी सुन्दरता है। सीताजी के वीणावादन से मुग्ध होकर घिर आए हुए मयूर की शिखा, सुए की नाक, कोकिल का कंठ, हरिणी की आँखें, मराल के मन्द-मन्द चलने वाले पाँव इसलिए उनके राम से इनाम नहीं पाते कि ये चीजें वस्तुतः सुन्दर हैं* बल्कि इसलिये कि कवि इन्हें परम्परा से सुन्दर मानते चले आए हैं, नहीं तो इनमें कोई सुन्दरता नहीं। इसीलिये सीताजी के मुख की प्रशंसा करते, कह गए हैं—

देखे मुख भावे अनदेखे ई कमल चन्द।

कमल और चन्द्रमा देखने में सुन्दर नहीं लगते? हद हो गई हृदयहीनता की!

---

* कबरी कुसुमालि सिखीन दई, गजकुम्भनि हारनि शोभ मई।
मुकुता शुक सारिक नाक रचे, कटि-केहरि किंकिणि शोभ सचे॥
दुलरी कल कोकिल कंठ बनी, मृग खंजन अंजन भाँति ठनी।
नृप-हंसनि नूपुर सोभ भिरी, कल हंसनि कंठनि कंठ सिरी॥

कल्पना की बेपर की उड़ानें अलबत्ता केशव ने खूब मारी है। जहाँ किसी की कल्पना नहीं पहुँच सकती, वहाँ उनकी कल्पना पहुँच जाती है। उनकी उत्कट कल्पना के नमूने रामचन्द्रिका के किसी भी पन्ने को उलटकर देखने से मिल सकते हैं। यहाँ एक दो ही उदाहरण काफी होंगे।

लंका में आग लगी है—

कंचन को पघल्यो पुर पूर पयोनिधि में पसरयो सो सुखी ह्वै।
गंग हजारमुखी गुनि 'केसो' गिरा मिली मानो अपार मुखी ह्वै॥

अग्नि के बीच बैठी हुई सीता को देखकर उद्दीप्त हुई केशव की कल्पना अत्यन्त चमत्कारक है—

महादेव के नेत्र की पुत्रिका सी, कि संग्राम की भूमि में चन्डिका सी।
मनो रत्न सिंहासनस्था सची है, किधौं रागिनी राग पूरे रची है॥

पुस्तक म आगे पढ़ते चले जाइए सारा वर्णन चमत्कार से परिपूर्ण मिलेगा पर इनकी कल्पना मस्तिष्क की उपज मात्र है, हृदय-जात नहीं। इसी से कभी कभी इनकी कल्पना ऐसे दृश्यों को अलंकार रूप में सामने लाती है जिनसे प्रस्तुत वस्तु का असली स्वरूप कुछ भी प्रत्यक्ष नहीं होता, पर जिसे प्रत्यक्ष करना अलंकारों का मुख्य उद्देश्य है। प्रस्तुत और अप्रस्तुत वस्तु के बीच केवल किसी बात में बाहरी समानता ही नहीं होनी चाहिए, उन दोनों को एक समान भावनाओं का उद्भावक भी होना चाहिए। यदि आप मुलायम मलमल की श्वेतता को उपमा देते हुए बरसात की धुली हड्डी से उसकी समानता करना चाहें तो कहाँ तक उसके प्रति लोगों की रुचि को आकर्षित कर सकेंगे? हाँ, मक्खन के साथ उसकी समानता करने से अवश्य यह काम हो सकता है। मक्खन कोमल और श्वेत होने के साथ साथ प्रिय वस्तु है जब कि हड्डी कठोर तो है ही, घृणा भी पैदा करती है। केशव का बालारुण को देखकर यह संदेह करना कि—

कै श्रोणितकलित कपाल यह किल कपालिका काल को

हड्डीवाली उपमा ही के समान है।

इसके साथ संदेहालंकार के जो और पक्ष हैं और जो एक उत्प्रक्षा है, व इसके विरोध में कितने मनोरम लगते हैं—

अरुणगात अति प्रात पद्मिनी प्राणनाथ भय।
मानहुँ केशवदास कोकनद कोक प्रेममय॥

परिपूरण सिंदूर पूर कैधौं मंगल-घट ।
किधौं शक्र को छत्र मढ़यो मानिक मयूप पट ।।
कै श्रोणितकलित कपाल यह किल कपालिका काल को ।
यह ललित लाल कैधों लसत दिग्भामिनि के भाल को ।।

बस एक पंक्ति ने सारा गुड़ गोबर कर दिया है ! कहीं कहीं तो प्रस्तुत वस्तु ऐसे अरुचिकर रूप में सामने आती है कि केशव की रुचि पर तरस आए बिना नहीं रहता। वे एक जगह रामचन्द्र की उपमा उल्लू से दे गए हैं—

वासर की सम्पति उलूक ज्यों न चितवत ।

और कहीं कहीं पर प्रस्तुत और अप्रस्तुत वस्तु में कुछ भी समानता नहीं होती, केवल शब्द साम्य के बल पर अलंकार गढ़ लिए गए हैं। पंचवटी का यह वर्णन लीजिए—

पांडव की प्रतिमा सम लेखो, अर्जुन भीम महामति देखो ।
है सुभगा सम दीपति पूरी, सिंदुर की तिलकावलि रूरी ।।
राजति है यह ज्यों कुल कन्या, धाइ विराजति है सँग धन्या ।
केलिथली जनु श्री गिरिजा की, शोभ धरे सितकंठ प्रभा की ।।

अब बताइए अर्जुन से अर्जुन के पेड़ का, भीम से अम्लवेतस का, सिंदूर के तिलक से सिंदूर के पेड़ का और दूध पिलानेवाली धाय से धाय के पेड़ का क्या सादृश्य है ? सिवाय इसके कि कोश में एक शब्द दोनों का पर्यायवाची मिलता है ? इसे यदि किसी का जी खिलवाड़ कहने का करे तो उसका इसमें क्या दोष ? इस शब्दसाम्य के कारण कहीं-कहीं पर तो केशव के पद्य बिलकुल पहेली हो गए हैं और खासकर वहाँ जहाँ उन्होंने सभंगपद श्लेष के द्वारा एक ही पद्य में दो-दो, तीन-तीन अर्थ ठूँसने का प्रयत्न किया है।

'जाको दैन न चहैं बिदाई, पूछै केशव की कविताई'

का यही रहस्य है।

हाँ, तो केशवदासजी में कलापक्ष अत्यन्त प्रबल है। उनकी बुद्धि प्रखर है और दरबारी होने के कारण उनका वाग्वैदग्ध्य ऊँचे दरजे का है। रामचंद्रिका सुन्दर और सजीव वार्तालापों से भरी हुई है। व्यंजनाएँ कई स्थानों पर बहुत अच्छी हुई हैं पर वस्तु या अलंकार की, भाव की नहीं—

कैसे देखौं ? जो सुन्दरि तेरी छुई दृग सोवत पातक लेखो ।

मैंने (हनुमान ने) तेरी सोती हुई स्त्री को देखा भर था इस पाप से बांधा गया हूँ परन्तु तेरी (रावण की) क्या दशा होगी जो पराई स्त्री को पापबुद्धि से हर लाया है; यह व्यंजित है।

नए और लोकोपकारी विचारों की भी उन्होंने ने खूब उद्भावना की है। इसका सबसे अच्छा एक उदाहरण उस लथाड़ में है जो उन्होंने लव के मुँह से विभीषण को दिलाई है। जिस खूबी से रावण ने अंगद को फोड़ने का प्रयत्न किया था उससे उनकी राजनीतिज्ञता का परिचय मिलता है। अपनी सी निपुणता के कारण वे वीरसिंहदेव का जुरमाना माफ़ कराने के लिए दिल्ली भेजे गए थे। राज-व्यवहार वे अच्छी तरह जानते थे। राज-सभा में रावण का आतंक प्रतिहारी की इस झिड़की में अंकित है—

पढ़ै विरंचि मौन वेद जीव सोर छंडि रे,
कुबेर बेर कै कही न जच्छ भीर मंडि रे।

दिनेस जाइ दूरि वैठु नारदादि संग ही,
न बोलु चंद मंद बुद्धि, इंद्रकी सभा नहीं॥

जरा विषय के बाहर चला जा रहा था। संक्षेप में, अपने निरीक्षण से एकत्र की हुई सामग्री को विचारों के पुष्ट ढांचे में ढालकर, उसे कल्पना का सौंदर्य देकर, तथा रागात्मिकता का उसमें जीवन फूँककर ही सफल कवि कविता का जीता जागता मनोहर रूप खड़ा कर सकता है। जिसमें ये सब बातें न होंगी उसे यद्यपि हम कवि कहने से इंकार न कर सकें, तथापि सफल कवि कहने को बाध्य नहीं किए जा सकते। केशवजी में विचारों की पुष्टता है, कल्पना की उड़ान है, और यद्यपि रागात्मकता का सर्वथा अभाव नहीं है फिर भी प्रायः अभाव ही सा है। निरीक्षण भी उनका एकदेशीय है जो मनुष्य के जीवन-व्यवहार ही से सम्बन्ध रखता है, मनुष्य की मनोवृत्तियों पर उनका उतना अधिकार नहीं है और प्रकृतिनिरीक्षण तो उनमें है ही नहीं। भाषा भी उनकी काव्योपयोगी नहीं है; माधुर्य और प्रसाद गुण से तो जैसे वे खार खाए बैठे थे। परन्तु उनके नाम और उनकी करामात का ऐसा जादू है कि उन्हें महाकवि केशवदास कहे बिना जी ही नहीं मानता, यद्यपि कविता के प्रजातंत्र में 'महा' और 'लघु' के विचार के लिए स्थान नहीं है, क्योंकि कविता यदि सच्ची कविता है तो, चाहे वह एक पंक्ति हो या एक महाकाव्य, समान आदर की अधिकारिणी है और तदनुसार उनके रचयिता भी; वैसे तो महाकाव्य लिखनेवाले सैकड़ों महाकवि निफल

लिये उन्होंने "शिवराजभूषण" की रचना की, वैसे ही रस-निरूपण के लिये भी कोई ग्रंथ लिखा हो जिसमें प्रचलित प्रथा के अनुकूल शृंगार-रसांतर्गत नायिका-भेद का विस्तार से वर्णन रहा हो। उपर्युक्त नवप्राप्त पद्य भी नायिका-भेद से सम्बन्ध रखते हैं। और 'मुदिता वधू कहावती'४, 'लघु मान कहावै'७, 'गुरु मान कह्यो है'८, 'लच्छिन हूँ मुगधा पहचानी'१३, 'उत्तिम कहावही'२१ के इन अंशों से तो यह स्पष्ट है कि ये किसी ऐसे ग्रंथ के अंश हैं जिसमें नायिका-भेद का वर्णन रहा हो। भूषण के रचे हुए सब ग्रंथ अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। शिवसिंहसरोज* में इनके भूषण-हजारा, भूषण-उल्लास और दूषण-उल्लास नामक ग्रंथों का उल्लेख है जिनका अब तक कोई पता नहीं चला है। हो सकता है कि भूषण-उल्लास और दूषण-उल्लास किसी बड़े लक्षण ग्रंथ अथवा लक्षण-सम्बन्धी योजना के अंग थे। इन्होंने बड़ी विस्तृत कविता की रचना की थी, इसका संकेत 'हजारा' नाम से मिलता है। सम्भवतः 'हजारा' में इनकी सब प्रकार की सुन्दर कविताओं का संग्रह रहा होगा। जान पड़ता है कि इन्होंने नवों रसों में सुन्दर काव्य की रचना की थी जिसका कुछ मान भी हुआ था। शिवसिंह सेंगर के अनुसार कालिदास द्विवेदी ने अपने संग्रह-ग्रंथ 'हजारा' के आदि में नवरस के सत्तर कवित्त इन्हीं के बनाए हुए लिखे हैं। ये सभी बातें इन पद्यों को भूषण-कृत मानने में सहायक होती हैं।

अनुमान होता है कि भूषण ने कवि-कर्म का आरम्भ शृंगारी कविता से ही किया होगा, जो परंपरावश लिखी होने तथा आरंभिक रचनाएँ होने के कारण उतनी अच्छी नहीं बनीं। शृंगार की ही कविता से अपना अभ्यास आरम्भ कर वे संभवतः अच्छे कवि हुए। परन्तु आगे चलकर शिवाजी के वीर कर्मों से अंतःप्रेरणा पाकर उनकी वाग्धारा दूसरी ओर मुड़ गई। उनके नए काव्य में यद्यपि शैली आलंकारिक ही रही किंतु विषय बदल गया। जहाँ अन्य लक्षणकार अलंकारों के उदाहरणों की रचना अधिकतर शृंगार की ही रचनाओं के रूप में किया करते थे वहाँ भूषण ने शिवाजी की उत्कट वीरता का आधार लेकर वीर, रौद्र और भयानक रस की ओजस्विनी कविता में उदाहरण प्रस्तुत किए। यही भूषण की विशेषता हुई, जिसके आगे उनका पुराना शृंगारी काव्य भुला दिया गया। यह भी संभव है कि यौवन-काल में घोर शृंगारी काव्य रचने का पीछे उनके हृदय में कुछ संकोच उत्पन्न हो गया हो और इसी कारण उन्होंने स्वयं ही वह परिस्थिति ला उपस्थित की हो

*—[illegible]—शिवसिंहसरोज, पृष्ठ ४६४ ।

जिससे पीछे उनके शृंगारी काव्य का पूरा प्रचार न होने पाया हो तथा केवल वे ही पद्य अन्य साधनों से सुरक्षित रह पाए हों जो पहले ही लोगों में प्रचार पा चुके होंगे।

औरंगजेब के दरबार में हाथ धुलाकर कविता सुनानेवाली किंवदंती में यदि कुछ सार है तो वह भी 'संकोच' वाले अनुमान को पुष्ट करती है। आजकल के कवियों को भी ऐसा संकोच हुआ करता है। अपने यौवन-काल की लिखी घोर शृंगारी कविताओं को फाड़ डालने की बात आजकल के एक प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित कवि ने संतोष की साँस लेते हुए कही थी। परंतु साहित्य-प्रेमियों की आशा और अभिलाषा यही होनी चाहिए कि भूषण की सभी रचनाएँ प्राप्त हो जायँ।

भूषण के नवप्राप्त शृंगारी पद्य यहाँ दिए जाते हैं—

धाय नही घर माहिं सुनो पुनि सासु रिसाई है कैसे बुलैबो।
संग न नेक चलै ननदी रिपु जोवत साँझ समै को अन्हैबो॥
यद्यप जानति हौं कवि भूषन क्यौं इनमैं वसि कै जसु पैबो।
तद्यप चंद के पूजन कौं जमुनातट मोंहि जरूर है जैबो॥ १॥

संगम को आगम भयो है सुप रंग गेहु,
घरी घरी दृगनि भरी सनेह काई है।
जैसे कहूँ मीन जल सूपत मलीन तपै,
प्रेम के वियोग गति बाल की जनाई है॥
जो है नीकैं सुपद संकेत मनभावते के,
भूषन सुकवि सो तो ह्वाँ कबहूँ न पाई है।
आयो है वसंत दल विरल विलोकि वन,
मदन की आगि उर में उमगि आई है॥ २॥

दूरि चितै जहँ मित्र को आनन कानन पास धर्‌यो विधि पानी।
अभी (?) तबै भुजमूल भवै कवि भूषन आँगन में अगरानी॥
अंग मरोरि निरंग भरी त्रिवली उघरी न अली पहचानी।
नेह दिपाय विचक्षण कौं गहि गाढ़ें सपी निज अंक मैं आनी॥ ३॥

मंदिर न नाह औ न निकट ननद आजु,
औसर अनंद नंदनंदन कौं ध्यावती।
ऐहै मनमोहन लगैहै उर आपने सौं,
ह्वैहै हित मैन चित्त चैन[1] यों बढ़ावती॥

---

[1]—हस्तलेख में 'चॅन'

शृंगार रस की कविता के अतिरिक्त एक शांत रस, एक बीभत्स रस और एक शिवा-प्रताप-वर्णन का, इस प्रकार भूषण के तीन कवित्त इस संग्रह में और दिए गए हैं जो नीचे दिए जाते हैं—

जिते मनि* मानिक हैं जोरे जनि जानि कहै,
धरा के धराप फेरि भराई धराइयौ ।
देह देह देह फेरि पाइहै न ऐसी देह,
जानिए न कौन भांति कौन जोनि जाइयौ ।।
एक भूप राषि भूप राखै मति भूषन की,
सोई भूपि राषि जानि भूषन बनाइयौ ।
गगन के गन नग गनन न देहै नग,
नगन चलेंगे साथ नगन चलाइयौ ।। १ ।।

नगर नगर पर तपत प्रताप धुनि,
गाढ़न गढ़न पर सुनि अवाज की ।
पंड नौउ पंड पर डंड सातौं दीप पर,
उदित उदित पर छामनी जिहाज की ।।
नृपति नृपति पर धामिनी पुमानो जू की,
थल थल ऊपर बनि हैं कविराज की ।
नग नग ऊपर निसान सोहैं जगमग,
पग पग ऊपर दुहाई सेवराज की ।। २ ।।

संभाजी की जीत्यौ साल भैर को सवद सुनि,
नर कहा सूरन के हिये धरकत हैं ।
देवलोक हूँ मैं अजौ मुगलन दिल अजौ,
सरिजा के सूरन के पग परकत है ।।
भूषन भनत देषौ भूतन के भौनन में,
ताके चंद्रावतन के लोथि लरकति हैं ।
कोहन लपेटे अधकारे परनेटे एजु,
रुधिर लपेटे पटनेटे फरकत हैं† ।। ३ ।।

---

*—हस्तलेख में 'मन' ।

†—यह शिवाबावनी के २४वें और २५वें कवित्तों से कुछ कुछ मिलता है ।

मूल गोसाईं-चरित और पं० रामनरेश त्रिपाठी

कुछ समय से पंडित रामनरेशजी त्रिपाठी गोस्वामी तुलसीदास पर एक ग्रंथ प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसका नाम है 'तुलसीदास और उनकी कविता'। इस ग्रंथ के दो भाग प्रकाशित हो चुके हैं, तीसरे के शीघ्र प्रकाशित होने की आशा दिलाई गई है।* इसके पहले भाग में वेणीमाधव के 'मूल गोसाईं-चरित' की खूब आड़े हाथों खबर ली गई है, और इसी प्रसंग में बाबू श्यामसुंदरदास के और मेरे ग्रंथ 'गोस्वामी तुलसीदास' पर भी तीव्र आक्षेप किए गए हैं। पहले पहल ये आक्षेप त्रिपाठीजी ने रामचरित-मानस की अपनी टीका की भूमिका में किए। उसी समय के आस-पास उन्होंने 'वीणा' में भी उस अंश को छपवाया, जिसमें ये आक्षेप हैं, और फिर १९३७ में इस वृहद् ग्रंथ में, जिसमें उन्हीं के कथनानुसार उनकी टीका की भूमिका संशोधित और परिवर्धित होकर आई है, उन आक्षेपों को दुहराया।

त्रिपाठीजी के आक्षेप इतने निस्सार हैं कि उस समय उनका उत्तर देना हमने समय का अपव्यय समझा। परंतु अभी 'सनाढ्य-जीवन' में श्रीयुत दीनदयालजी गुप्त का एक लेख छपा है, जिसमें उन्होंने त्रिपाठीजी के कुछ आक्षेपों को प्रमाण मानकर दुहराया है। जब एक युनिवर्सिटी-अध्यापक भी त्रिपाठीजी के इन कथनों को प्रमाण मानकर चल रहे हैं, तब यह स्पष्ट जान पड़ता है कि त्रिपाठीजी के कथनों की असत्यता प्रदर्शित करना आवश्यक है।

हमारा सबसे पहला दोष त्रिपाठीजी यह मानते हैं कि हमने 'मूल-गोसाईं-चरित' को अपने ग्रंथ के लिये आधार बनाया है। इसमें संदेह नहीं कि उस ग्रंथ के निर्माण के लिये जो सामग्री आधार मानी गई है, उसमें 'मूल गोसाईं-चरित' भी है। यही नहीं, 'मूल गोसाईं-चरित' जीवनी-निर्माण के क्षेत्र में पाँव रखने के लिये और सामग्री की अपेक्षा दृढ़ आधार माना गया है, क्योंकि गोस्वामीजी के जीवन की घटनाओं के यथाक्रम वर्णन की ओर

*—इस ग्रंथ के तीनों ही भाग प्रकाशित हो चुके हैं। —संपादक।

अंकुर भोग सजोग भयो कबहूँ न वियोग दवानल ज्वाला।
तापर फैलि रहे सर पल्लव फूलि रही उर फूल की माला ॥
सींचत नाह सदा कवि भूपन नीरस नेह स्वभाव को प्याला।
श्रीफल आँव सुहाग के बाग मैं मानो महा सुप वेलि है लाला ॥१७॥
बोलन* व्यंगि न जानति हौं न विलोल विलोकनि में चतुराई।
हास विलास प्रकास कि केलि में पेलि विसेष न आहि ढिठाई ॥
भूपन की रचना कवि भूपन जद्यप हौं सिपऊँ चतुराई।
तद्यप नाह को नेहु सपी तजि मोंहि न और तिया मन भाई ॥१८॥

पायन परत हरि पाए न मन तिहारे
काहे दृग तारेहू ललाई दीजियतु है।
कारन विनाहूँ तू करेरी अकरन लागी
मन मूढ़ता कहू बढ़ाय लीजियतु है ॥
बातैं सरकसी रसहू मैं कवि भूपन तो
बालम सो बौरी वरकसी कीजियतु है।
कैसे हू न बोध तेरैं सील को न सोध है री
ऐसे प्यारे प्रीतम सौं क्रोध कीजियतु है ॥ १९ ॥

कंत जागि जामिनि सकाम ठौर ठौर बसि
आए भोर और कामिनि सौं रति मानि कै।
तहाँ कोप कामिनी जनायो है चलायो बान
नैन छोर द्वार तिरछौंहैं ठानि ठानि कैं ॥
एते बीच स्याम लै मनैबे के किए लै बैन
तिहि सुढरयो है बैन प्रीति पहिचानि कैं।
कहै कवि भूपन ततछन लगाय अंक
मानद सौं आनद बढ़ायो सुप सानि कैं ॥ २० ॥

जद्यपि बिहारी और मंदिर तैं आए भोर
उरज की छाप उर और छवि पावही।
तद्यप सुनैन वाहि प्रीतम को बैन चाहि
सुधा सौं लपेटे बैन आवत सुभावही ॥
लोचन विलोल ज्यों विरोचन उए है कोल
उठी लात बोल अंकमालिका लगावही।

---

*—[illegible] मैं पाठ—बोनि न।

कहै कवि भूषन भई है कुलभूषन ए
भनगुण भामिनि ते उत्तिम कहावही ॥ २१ ॥
आति उहै ब्रजनंद समीप जहाँ घन कुंज की कुंज गली है ।
चंदमुखी पहरे सित चोल हँसै हिय हू मुकता अवली है ॥
चंदकला सि पुरी कवि भूषन वाहि चहू रप नून कली है ।
चंद उदै नकि नंदन देति न चंद्रप्रभा सिवराज चली है ॥२२॥
इस संग्रह में शृंगार रस के ये तीन पद्य और हैं जो पं० विश्वनाथ मिश्र आदि की ग्रंथावली में पहले ही प्रकाशित हो चुके हैं—

मेरु का मानों कुबेर की संपति ज्यों न घटे विधि रात श्रमा की ।
नीरधि नीर कहूं कवि भूषन छीरव छीर छमाहैं छमा की ॥
प्रीति महेस उमा की महारस रीति निरंतर राम रमा की ।
एन चलाए नले भम छांड़ि कठोर क्रिया जो तिया अधमा की* ॥१॥

सेवक कवच साजि वाहन बयारि वाजि,
गाढ़े दल गाजि रहे दीरघ बदन के ।
भूषन भनत समसेर सोई दामिन हैं,
हेतु नर कामिनी के मान के कदन के ॥
पैंदरि बलाका धुरवान के पताका गहे,
घेरियत चहूँ ओर सूने ही सदन के ।
ना करु निरादर पिया सों मिलु सादर,
ये आए वीर बादर बहादर मदन के† ॥ २ ॥

भेंटि गुरजन तोहि मेटि गुरजन लाज,
पंथ परिजन को न त्रास जिय जानी है ।
नेह ही को तात गुन जीवन सकल गात,
भादों तमपुंजन निकुंजन सकानी है ॥
सावन की रैनि कवि भूषन भयावनी मैं,
आवत सुरति तेरी संकहू न मानी है ।
आज रावरे को यहाँ बातें चलिबे की मीत,
मेरे जान कुलिस घटा घहरानी है‡ ॥

*—विश्वनाथप्रसाद मिश्र—भूषणग्रन्थावली, पृ० ३०६।
†—वही, पृ० १२५-२६। अन्य प्रकाशित शृङ्गारी कविताओं के लिए देखिए वही, पृ० १२४-१२७।
‡—विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ३०६।

'मूल गोसाईं-चरित' और सब सामग्री से अधिक अग्रसर है, तथा गोसाईंजी के लगभग समकालीन होने का उसका दावा है, जो सर्वथा बनावटी भी नहीं लगता। इसीलिये हिंदी के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० गौरीशंकर-हीराचंद ओझा ने भी कहा था—"बाबा वेणीमाधवदास के लिखे हुए जीवन-चरित के आधार पर गोस्वामीजी का जीवन-चरित लिखने की बड़ी आवश्यकता है।"*

परंतु त्रिपाठीजी का अभिप्राय इतना ही नहीं है। "उन्होंने (बाबू श्याम-सुंदरदासजी और मैंने) 'मूल गोसाईं-चरित' के आधार पर एक भारी पुस्तक ही रच डाली है।" कहकर वे ध्वनित यह करना चाहते हैं कि केवल इसी के आधार पर हमारा ग्रंथ रचा गया है, और इसमें दी हुई बातें हमारे ग्रंथ में ज्यों-की-त्यों मान ली गई हैं। संभवतः यही कारण है कि उन्होंने अपने इस ग्रंथ में हम लोगों को लेखक नहीं माना है, और जहाँ-जहाँ हमारा उल्लेख किया है, "संपादक-द्वय" कहकर हमें याद किया है। लेख के कच्चे रूप में शायद उन्होंने "संपादक-द्वय ने लिखा है" के स्थान पर "संपादक-द्वय न संपादित किया है," लिखकर आजमा देखा हो कि कैसा लगता है। पर किसी तरह हिंदी-जगत् इस अजमत से वंचित रह गया। उनका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि जिस जीवनी को वेणीमाधवदास ने पद्य में लिखा है, गद्य में हमने उसका केवल संपादन कर दिया है। परंतु त्रिपाठीजी यदि जीवन-सामग्रीवाला अध्याय अच्छी तरह पढ़ते, तो उन्हें पता चलता कि न तो हमने अपना ग्रंथ केवल 'मूल गोसाईं-चरित' ही पर अवलंबित किया है, और न उसकी सब बातें प्रामाणिक ही मानी हैं। यह बात उस अध्याय में पूर्णतया स्पष्ट कर दी गई है। उसके अंत में हमने स्पष्ट लिखा है—"तुलसीदास के जीवन की जो कुछ सामग्री आज तक उपलब्ध है, उसका उल्लेख ऊपर कर दिया गया है। इसी के आधार पर उनके जीवन का पुनर्निर्माण करना होगा, जिसका प्रयत्न आगे के पृष्ठों में किया जाता है।"† इस सामग्री में 'मूल गोसाईं-चरित' के अतिरिक्त गोसाईंजी की आत्मचरितमय कविता, नाभादासजी का छप्पय, प्रियादासजी की टीका आदि भी सम्मिलित हैं। यह सामग्री ज्यों-की-त्यों नहीं ग्रहण कर ली गई। उसके आधार पर गोसाईंजी के जीवन का पुनर्निर्माण किया गया है। 'मूल गोसाईं-चरित' में तो अपने ढंग से पूरी जीवनी विद्यमान है, यदि हमें उसे ही पूरा ग्रहण करना होता, तो पुनर्निर्माण की

---

*—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ८, पृष्ठ ५१।

†—गोस्वामी तुलसीदास, पृ० २३।

आवश्यकता ही क्या रहती। और, ग्रंथ को आगे पढ़कर कोई भी यह देख सकता है कि वेणीमाधवदास की कही हुई प्रत्येक बात स्वीकार नहीं की गई है। जो बात जाँच में ठीक नहीं उतरी, वह सच्ची नहीं मानी गई। इस संबंध में और विद्वानों की सम्मति से भी लाभ उठाया गया है। और, असल बात तो यह है कि मूल-चरित की जिन बातों का खंडन करते हुए त्रिपाठीजी ने उसे अप्रामाणिक माना है, कुछ को छोड़कर, उन सबका खंडन हमारे ग्रंथ में विद्यमान है।

आगे चलकर त्रिपाठीजी ने हमारे ग्रंथ से यह उद्धरण दिया है—

"वैदिक सर्वांकिशोर शुक्ल को वेणीमाधवदास की प्रति कनक-भवन (अयोध्या) के महात्मा बालकराम विनायकजी से प्राप्त हुई थी। महात्मा जी की कृपा से इसकी प्रति देखने का हमें भी सौभाग्य मिला है। जिस प्रति से यह प्रति लिखी गई थी, वह मौज़ा लच्छ, पोस्ट ओबरा, जिला गया के पं० रामाधारी पांडेय के पास है। पांडेयजी ने लिखा है कि वह प्रति उनके पिता को गोरखपुर से किसी से प्राप्त हुई थी। तब से वह उनके यहाँ है, और नित्यप्रति उसका पाठ होता है। पांडेयजी इस प्रति को पूजा में रखते हैं। इससे वह बाहर तो नहीं जा सकती, परंतु यदि कोई उसे वहाँ जाकर देखना और जाँचना चाहे, तो ऐसा कर सकता है। जाँच कराने से ज्ञात हुआ है कि यह प्रति पुराने देशी कागज पर देवनागरी अक्षरों में लिखी है। इसमें "६॥ ४॥" के आकार के ५८ पृष्ठ हैं। प्रत्येक पृष्ठ में १२ पंक्तियाँ हैं।"

और इस पर यह टिप्पणी जड़ी है—

"इतना विवरण मिलने पर भी यह जानना अभी शेष ही है कि उक्त महात्माजी को यह प्रति कैसे प्राप्त हुई? क्या वह गया गए थे, और स्वयं उन्होंने उसकी नकल की थी? यह पुस्तक तो पूजा में रहती है, कहीं बाहर जा नहीं सकती, फिर वह कनक-भवन (अयोध्या) तक कैसे पहुँची? असली प्रति तो तो अभी किसी ने नहीं देखी है। केवल पत्र-द्वारा उसके पन्नों की लंबाई-चौड़ाई मँगा ली गई है।"

क्या विनायकजी गया गए थे?—यह त्रिपाठीजी ने खूब कहा! उस समय भी लोग गया जाना नहीं छोड़ते थे, जब समझा जाता था कि जो गया गया, सो गया, और अब तो रेल, मोटर इत्यादि एक स्थान से दूसरे स्थान को आने-जाने के कई साधन सुलभ हो गए हैं। औरों तक तो त्रिपाठीजी आदि भी हो आए हैं, तब विनायकजी के गया हो आने में क्या अड़चन है? उक्त पुस्तक की नकल अयोध्या में कैसे विद्यमान है?—इस प्रश्न का

'मूल गोसाईं-चरित' और सब सामग्री से अधिक अग्रसर है, तथा गोसाईंजी के लगभग समकालीन होने का उसका दावा है, जो सर्वथा बनावटी भी नहीं लगता। इसीलिये हिंदी के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० गौरीशंकर-हीराचंद ओझा ने भी कहा था—"बाबा वेणीमाधवदास के लिखे हुए जीवन-चरित के आधार पर गोस्वामीजी का जीवन-चरित लिखने की बड़ी आवश्यकता है।"*

परंतु त्रिपाठीजी का अभिप्राय इतना ही नहीं है। "उन्होंने (बाबू श्याम-सुंदरदासजी और मैंने) 'मूल गोसाईं-चरित' के आधार पर एक भारी पुस्तक ही रच डाली है।" कहकर वे ध्वनित यह करना चाहते हैं कि केवल इसी के आधार पर हमारा ग्रंथ रचा गया है, और इसमें दी हुई बातें हमारे ग्रंथ में ज्यों-की-त्यों मान ली गई हैं। संभवतः यही कारण है कि उन्होंने अपने इस ग्रंथ में हम लोगों को लेखक नहीं माना है, और जहाँ-जहाँ हमारा उल्लेख किया है, "संपादक-द्वय" कहकर हमें याद किया है। लेख के कच्चे रूप में शायद उन्होंने "संपादक-द्वय ने लिखा है" के स्थान पर "संपादक-द्वय ने संपादित किया है," लिखकर आजमा देखा हो कि कैसा लगता है। पर किसी तरह हिंदी-जगत् इस अजमत से वंचित रह गया। उनका अभिप्राय यह जान पड़ता है कि जिस जीवनी को वेणीमाधवदास ने पद्य में लिखा है, गद्य में हमने उसका केवल संपादन कर दिया है। परंतु त्रिपाठीजी यदि जीवन-सामग्रीवाला अध्याय अच्छी तरह पढ़ते, तो उन्हें पता चलता कि न तो हमने अपना ग्रंथ केवल 'मूल गोसाईं-चरित' ही पर अवलंबित किया है, और न उसकी सब बातें प्रामाणिक ही मानी हैं। यह बात उस अध्याय में पूर्णतया स्पष्ट कर दी गई है। उसके अंत में हमने स्पष्ट लिखा है—"तुलसीदास के जीवन की जो कुछ सामग्री आज तक उपलब्ध है, उसका उल्लेख ऊपर कर दिया गया है। इसी के आधार पर उनके जीवन का पुनर्निर्माण करना होगा, जिसका प्रयत्न आगे के पृष्ठों में किया जाता है।"† इस सामग्री में 'मूल गोसाईं-चरित' के अतिरिक्त गोसाईंजी की आत्मचरितमय कविता, नाभादासजी का छप्पय, प्रियादासजी की टीका आदि भी सम्मिलित हैं। यह सामग्री ज्यों-की-त्यों नहीं ग्रहण कर ली गई। उसके आधार पर गोसाईंजी के जीवन का पुनर्निर्माण किया गया है। 'मूल गोसाईं-चरित' में तो अपने ढंग से पूरी जीवनी विद्यमान है, यदि हमें उसे ही पूरा ग्रहण करना होता, तो पुनर्निर्माण की

---

*—नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ८, पृष्ठ ५१।

†—गोस्वामी तुलसीदास, पृ० २३।

आवश्यकता ही क्या रहती । और, ग्रंथ को आगे पढ़कर कोई भी यह देख सकता है कि वेणीमाधवदास की कही हुई प्रत्येक बात स्वीकार नहीं की गई है । जो बात जाँच में ठीक नहीं उतरी, वह सच्ची नहीं मानी गई । इस संबंध में और विद्वानों की सम्मति से भी लाभ उठाया गया है । और, असल बात तो यह है कि मूल-चरित की जिन बातों का खंडन करते हुए त्रिपाठीजी ने उसे अप्रामाणिक बताया है, दुराग्रह को छोड़कर, उन सबका खंडन हमारे ग्रंथ में विद्यमान है ।

आगे चलकर त्रिपाठीजी ने हमारे ग्रंथ से यह उद्धरण दिया है—

'"श्रीयुत रामकिशोर शुक्ल को वेणीमाधवदास की प्रति कनक-भवन (अयोध्या) के महात्मा बालकराम विनायकजी से प्राप्त हुई थी । महात्मा जी की कृपा से उसकी प्रति देखने का हमें भी सौभाग्य मिला है । जिस प्रति से यह प्रति लिखी गई थी, वह सीता मण्ड, पोस्ट ओबरा, जिला गया के पं० रामाधारी पांडेय के पास है । पांडेयजी ने लिखा है कि यह प्रति उनके पिता को गोरखपुर में किसी से प्राप्त हुई थी । तब से यह उनके यहाँ है, और नित्यप्रति उसका पाठ होता है । पांडेयजी इस प्रति को पूजा में रखते हैं । इससे यह बाहर तो नहीं जा सकती, परंतु यदि कोई उसे वहाँ जाकर देखना और जाँचना चाहे, तो ऐसा कर सकता है । जाँच कराने से ज्ञात हुआ है कि यह प्रति पुराने देशी कागज पर देवनागरी अक्षरों में लिखी है । इसमें "८॥ × ५॥" के आकार के ५९ पृष्ठ हैं । प्रत्येक पृष्ठ में १२ पंक्तियाँ हैं ।"

और इस पर यह टिप्पणी जड़ी है—

"इतना विवरण लिखने पर भी यह जानना अभी शेष ही है कि उक्त महात्माजी को यह प्रति कैसे प्राप्त हुई ? क्या वह गया गए थे, और स्वयं उन्होंने उसकी नकल की थी ? यह पुस्तक तो पूजा में रहती है, कहीं बाहर जा नहीं सकती, फिर वह कनक-भवन (अयोध्या) तक कैसे पहुँची ? असली प्रति भी तो अभी किसी ने नहीं देखी है । केवल पत्र-द्वारा उसके पन्नों की लंबाई-चौड़ाई मंगा ली गई है ।"

क्या विनायकजी गया गए थे ?—यह त्रिपाठीजी ने खूब कहा ! उस समय भी लोग गया जाना नहीं छोड़ते थे, जब समझा जाता था कि जो गया गया, सो गया, और अब तो रेल, मोटर इत्यादि एक स्थान से दूसरे स्थान को आने-जाने के कई साधन सुलभ हो गए हैं । सोरों तक तो त्रिपाठीजी आदि भी हो आए हैं, तब विनायकजी के गया हो आने में क्या अड़चन है ? उक्त पुस्तक की नकल अयोध्या में कैसे विद्यमान है ?—इस प्रश्न का

कोई स्वीकार-योग्य हल त्रिपाठीजी को नहीं सूझता। वह उस विस्मृतनामा, किंतु प्रख्यात महापुरुष की भाँति हैरत में हैं, जिसने छत पर उपले पये देखकर आश्चर्य के साथ पूछा था—"यह देखो, छत पर गाय गोबर कैसे कर आई ?" और देखिए, "जांच कराने से ज्ञात हुआ है" के माने "पत्र द्वारा पत्रों की लंबाई-चौड़ाई मँगा ली गई है" त्रिपाठीजी ने कैसे लगा लिए, यह त्रिपाठीजी ही हमें बताने की कृपा करें। "असली प्रति भी तो अभी किसी ने नहीं देखी है" कहने की गलती भी त्रिपाठीजी से न हुई होती, यदि हमारे ग्रंथ के जीवन-सामग्रीवाले अध्याय को उन्होंने भली-भांति पढ़ा होता। उसमें हमने स्पष्ट लिखा है—"इस मूल-चरित की पूरी प्रतिलिपि, जो पं० रामाधारी पांडेय की (प्रति की) ठीक नकल है, इस पुस्तक के दूसरे परिशिष्ट में दी जाती है।" क्या यह केवल पत्र-द्वारा लंबाई-चौड़ाई मँगा लेना है ? क्या विना मूललिपि के देखे उसकी ठीक नकल होना संभव है ? क्या 'जांच कराने से यह स्पष्ट नहीं है कि पं० रामाधारी पांडेय की ही बात का विश्वास नहीं कर लिया गया है ? किंतु आजकल के खोजियों को सोचने-समझने की फुर्सत कहां, उन्हें तो बस लिखना है।

एक बात और यहां लिख दें। पं० रामकिशोर शुक्ल के द्वारा नवल-किशोर-प्रेस की रामायण के साथ 'मूल गोसाईं-चरित' के प्रकाशित होने पर बाबू श्यामसुंदरदास ने उसके विषय में बड़ी छान-बीन की, और बहुत-से हिंदी-साहित्यिकों की सम्मतियां मांगी। उसका परिणाम उन्होंने नागरी प्रचारिणी पत्रिका के सातवें और आठवें भाग में प्रकाशित किया था। जैसा उन्होंने आठवें भागवाले लेख में लिखा है, उन्होंने एक विश्वस्त व्यक्ति को उस पुस्तक की जाँच करने और उससे छपी प्रति का मिलान करने के लिये पं० रामाधारी पांडेय के यहां भेजा था। पं० रामनरेश त्रिपाठी तो इस बात को मानेंगे नहीं, क्योंकि हमारे ग्रंथ को वे भारीभरकम ग्रंथ मान चुके हैं, पर जैसा बाबू श्यामसुंदरदास ने पुस्तक की भूमिका में लिखा है, हिंदुस्तानी एकेडेमी तुलसीदास पर एक छोटा ग्रंथ चाहती थी, और उसकी इच्छा के अनुसार बने हुए ४० पृष्ठों के दो परिशिष्टों-सहित २५० पृष्ठों के इस छोटे ग्रंथ में आवश्यकता-वश सब बातें संक्षेप में कहने का प्रयत्न किया गया है। पर त्रिपाठीजी का तो कर्तव्य था कि तीन भागों में विभक्त, १२०० से अधिक पृष्ठोंवाला, अपना वृहत्काय ग्रंथ लिखने के पहले 'मूल गोसाईं-चरित'-संबंधी सारी सामग्री पढ़ लेते। ऐसा करना तो रहा दूर, उन्होंने उस ग्रंथ का एक अध्याय भी अच्छी तरह नहीं पढ़ा, जिसकी उन्होंने इतनी तीव्र आलोचना की है।

आगे चलकर त्रिपाठीजी पृष्ठ ७९ पर लिखते हैं—"उक्त विद्वान् संपादक-द्वय ने पृष्ठ २१ पर यह भी लिखा है ('लिखा है' से उनका अभिप्राय है-'संपादित किया है') कि 'मूल गोसाईं-चरित' से इस बात का संकेत मिलता है कि गोसाईंजी से वेणीमाधवदास की पहली भेंट संवत् १६०९ और १६१६ के बीच में हुई थी। संभवतः इसी समय वे उनके शिष्य भी हुए हों।" इत्यादि।

इस पर आश्चर्य प्रकट करते हुए त्रिपाठीजी ने टिप्पणी की है कि "मैंने मूल-चरित को कई बार पढ़ा है, मुझे तो कहीं यह आभास नहीं मिला कि तुलसीदास से वेणीमाधवदास की भेंट संवत् १६०९ और १६१६ के बीच (में ?) हुई थी।"

यदि यह कथन किसी सामान्य व्यक्ति का होता, तो इसके लिये स्थान था, क्योंकि हमारे ग्रंथ में उस स्थल का निर्देश करने से रह गया है, जिससे यह आभास मिलता है। परंतु त्रिपाठीजी-सरीखे सज्जन, जिनका दावा है कि "मैंने उसे ('मूल-गोसाईं-चरित' को) ध्यान से पढ़ा है, उसके एक एक शब्द और महावरों (?) पर विचार किया है" (पृष्ठ ७५), ऐसा कहें तो, आश्चर्य की बात है। इससे उनके दावे की असलियत खुल जाती है। यदि उन्होंने मूल-चरित के एक एक शब्द पर विचार किया होता, तो उन्हें यह पता लगाने में कठिनाई न होती कि १६०९ और १६१६ की घटनाओं के बीच के इस स्थल से हमने यह संकेत पाया है—

इमि जादव माधव बेनि उभय

....

सब रंग - रँगे सतसंग - पगे ;
अहमादि कुनींद-सुषप्ति जगे* ।

वे चाहे हमारे अर्थ से सहमत न होते, किंतु यदि सचमुच उन्होंने मूल-चरित के एक-एक शब्द पर विचार किया होता, तो इतना तो उन्हें स्पष्ट हो ही जाता कि 'माधव बेनि' से वेणीमाधव अर्थ निकल सकता है।

इस पर एक और प्रश्न त्रिपाठीजी ने पूछा है—"यह कैसे विदित हुआ कि वह शिष्य भी हुए, और शिष्य होने के बाद लगातार ६४ या ७० वर्षों तक भी रहे (पृष्ठ ७९)।" आक्षेप-कामी त्रिपाठीजी ने "संभवतः इसी समय वे उनके शिष्य भी हुए हैं।" में "संभवतः" शब्द की ओर ध्यान नहीं

---

*—मू० गो० च०, दोहा २९ से पहले।

दिया। यदि दिया होता, तो पता चलता कि यह हमारा अनुमान है, और जितना तर्क उस पर अवलंबित है, सब उसी की कोटि का है। परंतु यह अनुमान सर्वथा निराधार नहीं। इसके आधार हैं शिवसिंह-सरोज के ये कथन— "यह महात्मा गोस्वामी तुलसीदासजी के शिष्य उन्हीं के साथ रहते रहे हैं।" इनके जीवन-चरित्र की पुस्तक वेणीमाधवदास पसका ग्रामवासी ने, जो इनके साथ-साथ रहे, बहुत विस्तार-पूर्वक लिखी है। उसके देखने से इन महाराज के सब चरित्र प्रगट होते हैं।" 'सरोज'-कार का अभिप्राय यह जान पड़ता है कि वेणीमाधवदास को गोसाईंजी के सब चरित्र लिखने के लिये उनका आवश्यक संसर्ग प्राप्त था, अर्थात् उनके साथ वेणीमाधवदास का साहचर्य थोड़े काल का नहीं, दीर्घकालीन था। शिवसिंह ने उन्हें गोसाईंजी का शिष्य बतलाया है, और उनके साथ दीर्घकालीन संपर्क की व्यंजना की है। सं० १६०६ और १६१६ के बीच उनका गोसाईंजी की शिष्यता स्वीकार करना इन बातों के साथ ठीक बैठ जाता है।

अब जरा उन तर्कों की बानगी देखिए, जिनके द्वारा त्रिपाठीजी ने 'मूल गोसाईं-चरित' को सर्वथा अप्रामाणिक सिद्ध किया है। हमारा यह आग्रह नहीं कि 'मूल गोसाईं-चरित' सर्वथासिद्ध प्रामाणिक ग्रंथ है। हाँ, यह आग्रह अवश्य है कि सार-हीन तर्कों के कारण वह अप्रामाणिक नहीं माना जाना चाहिए। उसकी प्रामाणिकता में सबसे पहली आपत्ति त्रिपाठीजी को यह है कि वेणीमाधवदास केवल भद्दा 'तुकरंक' है, "जिसे न छंद का ज्ञान था, न व्याकरण का, और न वह तुक ही मिला सकता था।" जो व्यक्ति इतने दीर्घकाल तक तुलसीदास के साथ रहकर भी कवि नहीं बन सका, "उसके कथन का क्या प्रमाण होगा ?"

किसी के कथनों की प्रामाणिकता की कवि त्रिपाठीजी ने यह नई कसौटी चलाई है। इतिहासकारों की जान अब सांसत में है, बेचारे कहाँ जायँगे। और, त्रिपाठीजी की बात को तो कोई अब अप्रामाणिक बता ही नहीं सकता, क्योंकि वे अच्छे कवि हैं। चलो, अच्छा हुआ। झंझट हटा, त्रिपाठीजी जो कुछ लिखेंगे, सब इतिहास हो जायगा।

हाँ, त्रिपाठी जी इतना अवश्य भूल जाते हैं कि साधु-संत कविता करना सिखाने के लिये नहीं, उनकी आध्यात्मिक उन्नति कराने के लिए चेले मूड़ते हैं। इसलिए यदि वेणीमाधवदास अच्छे कवि नहीं हो सके, तो न गोस्वामी जी की गुरुता में उससे कोई कमी आती है, और न वेणीमाधवदास की शिष्यता में। मध्ययुग में ऐसे साधु-संतों की कमी नहीं, जिन्होंने पद्य-रचना तो की है,

पर उसमें न काव्य-सौंदर्य है और न भाषा की स्वच्छता। और, बेढंगे तथा बेतुके छंदों में होने के कारण कोई भी बात या जीवनी झूठी नहीं हो जाती।

त्रिपाठी जी ने आगे लिखा है कि तुलसीदास के संसर्ग से प्राप्य कविजनोचित गुणों को न ग्रहण कर वेणीमाधवदास "तुलसीदास की डायरी लिखा करता था, यह कहाँ तक विश्वासनीय माना जायगा ? हिन्दू-साधुओं में कभी डायरी लिखने लिखवाने की चाल सुनी नहीं गई। फिर बाबा वेणीमाधवदास को यह प्रवृत्ति कैसे हुई ? तुलसीदास तो हमेशा निस्संग जीवन पसंद करनेवाले व्यक्ति थे; स्तुति-प्रार्थनाओं से प्रसन्न होनेवाले देवता ही उनके पहरेदार थे; उनको बाबा वेणीमाधवदास-जैसे तुकरंक प्राइवेट सेक्रेटरी की क्या आवश्यकता थी ?"

यह ठीक है कि हिन्दू-साधु अपनी डायरी लिखते-लिखवाते न थ, परंतु यह कदापि यथार्थ नहीं कि श्रद्धालु भक्त या शिष्य अपने गुरु या श्रद्धा-भाजन की जीवनी लिखा ही नहीं करते थे। संवत् १६६४ में जैन गुरु हीरविजय सूरि की जीवनी उन्हीं के समय में जगद्गुरु काव्य के नाम से पद्मसागर गणि ने संस्कृत में लिखी। संवत् १६४५ में अनंतदास ने कबीर, नामदेव, त्रिलोचन, रैदास, पीपा आदि संतों की परिचयियाँ हिंदी में लिखीं। संवत् १६३२ में रूपदास ने अपने गुरु सेवादास की परिचयी लिखी जिसमें उनके विहार (पर्यटन) का पूरा-पूरा वर्णन है।

हां, यह बात अवश्य है कि ऐसे लोग तथ्यों से दूर भी हट जाते हैं। वे गुरु-महिमा का गान ही विशेषकर अपना कर्तव्य समझते हैं। महात्माओं के विषय में कई अलौकिक और चमत्कारी बातें सहज ही फैल जाया करती हैं, और शिष्य-समुदाय उन पर शीघ्र विश्वास कर बैठता है। सत्रहवीं शताब्दी के परम श्रद्धाशील, गुरु-भक्त शिष्य वेणीमाधवदास में इस बात का पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। त्रिपाठी जी ने ठीक लिखा है कि सम्राट जॉर्ज पंचम से गांधी जी की भेंट के सम्बन्ध में विचित्र गपाष्टक तैयार की जा सकती है। पर वह गपाष्टक जिसने लिखी है, उसकी मानी जायगी या नहीं ? और, कई सौ वर्षों बाद वह इस बात का प्रमाण मानी जायगी या नहीं कि सम्राट् जॉर्ज पंचम की गांधी जी से भेंट हुई थी। वेणीमाधवदास सरीखे श्रद्धालु शिष्य से वैज्ञानिक अर्थ में इतिहास की आशा करना व्यर्थ है। वह इतिहास नहीं पुराण लिख सकते थे जिससे यदि कोई प्रयत्न-पूर्वक ढूंढे तो इतिहास निकाला जा सकता है। जिसके दिव्य पहरेदार हों उसे अदिव्य सेक्रेटरी

रखने की जरूरत हो सकती है या नहीं, यह त्रिपाठी जी ही जानें। पर प्रस्तुत समस्या के हल के लिये इसका उत्तर आवश्यक नहीं।

त्रिपाठी जी कहते हैं, 'मूल गोसाईं-चरित' इसलिये भी अप्रामाणिक है कि उसमें 'वुलाहट' शब्द का प्रयोग हुआ है। वह लिखते हैं—हमें इस 'वुलाहट' के 'हट' को देखकर संदेह हुआ था। क्योंकि हट-प्रत्यय-युक्त शब्द, जैसे घवराहट, मुसकाहट, चिल्लाहट आदि, वहुत प्राचीन नहीं हैं। कम से कम मुझे किसी प्राचीन कवि की कविता में अभी तक नहीं मिले। हिंदू-विश्वविद्यालय के हिंदी अध्यापक आचार्य रामचंद्र शुक्ल को मैंने पत्र लिखकर और फिर मिल कर भी पूछा। वह भी 'हट' को प्राचीन नहीं मानते।"

आचार्य शुक्लजी को त्रिपाठी जी व्यर्थ ही सान रहे हैं, और अपनी प्रमाण-हीन, व्यक्तिगत राय का उत्तरदायित्व उनके सिर थोप रहे हैं। शुक्लजी ने जिस अर्थ में 'आहट' (त्रिपाठी जी के 'हट') प्रत्यय को नवीन वताया होगा वह त्रिपाठी जी की समझ में आया ही नहीं। सभी लोग इस प्रत्यय को इस अर्थ में आधुनिक समझते हैं कि यह प्रत्यय अधिकतर खड़ी वोली में प्रयुक्त होता है। खड़ी वोली आजकल की विशेषता है। जिस अधिकता के साथ वह आजकल साहित्य में व्यवहृत होती है, उतनी प्राचीन काल में नहीं। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह प्रत्यय पुराना नहीं। खड़ी वोली ही में नहीं, गढ़वाली वोली में भी, जिस पर मुसलमानी प्रभाव वहुत कम पड़ा है यह प्रत्यय 'आट' के रूप में विद्यमान है जैसे घवराट (घवराहट) गगड़ाट (गड़गड़ाहट) फफड़ाट या फड़फड़ाट (फड़फड़ाहट) इत्यादि। कभी-कभी व्रजभाषा में भी इसका प्रयोग हो जाया करता था। कम से कम इसका तो स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि गोस्वामी जी के शिष्य वेणीमाधवदास के समय में इस प्रत्यय का प्रयोग होता था। वेणीमाधवदास (सं० १६५५-१६८९ के लगभग—'सरोज') के समकालीन व्रजभाषा के प्रसिद्ध कवि विहारी (सं० १६६६-१७२०—शुक्लजी) ने इस प्रत्यय का प्रयोग किया है। विश्वास न हो तो ये प्रमाण प्रस्तुत हैं—

कुंज भवन तजि भवन कौं
                    चलियै नंद किशोर;
फूलति कली गुलाव की,
                    चटकाहट चहुँ ओर ॥ ८४ ॥
मरैं अदव उठलाहटी
                    उर उपजावति त्रासु;

दुसह संक विस को करै,
जैसे सोंठ मिठासु ॥ ३६० ॥
ढीठि परोसिनि ईठि ह्वै
कहे जु गहे सयानु ;
सबै सँदेसे कहि कह्यौ
मुसकाहट मैं मानु ॥ ३८३ ॥
मार्‌यौ मनुहारिनु भरी,
गार्‌यौ खरी मिठाहिं,
वाको अति अनखाहटौ,
मुसकाहट बिनु नाहिं ॥ ४६८ ॥
[विहारी-रत्नाकर]

किंतु त्रिपाठी जी ने तो 'एक-एक शब्द और महावरों' पर विचार किया है, इसलिए वे यदि इस प्रमाण को न मानें तो हम कर ही क्या सकते हैं।

खड़ी बोली की पुट के कारण भी 'मूल गोसाईं-चरित' अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता। खड़ी बोली काफी पुरानी है। कम-से-कम अकबर के समय में तो वह विद्यमान थी ही। गंगा भाट ने 'चंद-छंद-बरनन की महिमा' अकबर को खड़ी बोली में सुनाई थी। काव्य-भाषा पर जिसका अधिकार नहीं रहता, उस पद्यकार की भाषा मिश्रित हो जाती है। वेणीमाधवदास अच्छा कवि नहीं है, उसकी भाषा का मिश्रित हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं।

'मूल गोसाईं-चरित' में एक स्थल पर 'सत्यं शिवं सुंदरं' का प्रयोग हुआ है। उक्त ग्रंथ के अनुसार गोसाईंजी ने काशी में पहले पहल अन्नपूर्णा और विश्वनाथजी को रामचरित-मानस सुनाया, और—

पोथी-पाठ समाप्त कै के धरै
सिव-लिंग ढिग रात में
मूरख, पंडित, सिद्ध, तापस जुरे
जब पट खुलेउ प्रात में।
दंपिन तिरपित दृष्टि तें सब जने,
कीन्ही सही संकरं ;
दीव्यापर सों लिख्यो पढ़ै धुनि सुने
सत्यं सिवं सुंदरं।

इस पर त्रिपाठीजी महाराज की यह टिप्पणी है—"इस 'सत्यं शिवं सुंदर' ने तो मूल चरित के आधुनिक रचयिता को अँधेरे में से खींचकर उजाले में लाकर खड़ा कर दिया। सत्यं शिवं सुंदरं संस्कृत का प्राचीन वाक्य है, पर अभी थोड़े दिनों से ही हिंदीवालों में इसने प्रवेश पाया है। हिंदी के किसी प्राचीन कवि ने इसका उपयोग नहीं किया था। तुलसीदास ही ने नहीं किया, तो उनके एक साधारण पढ़े-लिखे कल्पित चेले की क्या बिसात थी, जो इस वाक्य तक पहुँचता ?"

यदि, जैसा त्रिपाठीजी मान रहे हैं, 'सत्यं शिवं सुंदर' 'संस्कृत का पुराना वाक्य है', तो वह मूल गोसाईं-चरित' की प्रामाणिकता का पोषक ही है बाधक नहीं। यदि वह प्राचीन काल में प्रचलित था, तो चाहे जिसकी नजर में पड़ जा सकता है। यह कोई बात नहीं कि गोसाईंजी ने स्वयं उसका प्रयोग नहीं किया' तो उनका 'तुकरंक' चेला भी उसका प्रयोग न कर सके। त्रिपाठीजी तक को तो यह मालूम हो गया है कि यह संस्कृत का वाक्य है। परंतु उन्होंने यह बतलाने की कृपा नहीं की कि उसका प्रयोग उन्होंने संस्कृत के किस ग्रंथ में देखा है। तथ्य यह है कि संस्कृत के किसी ग्रंथ में इसका प्रयोग अब तक नहीं मिला है। कम-से-कम प्रधान उपनिषदों में, जिनमें उसके मिलने की आशा हो सकती है, वह नहीं ही मिलता।

इस 'सत्यं शिवं सुंदरं' का उल्लेख हमारे ग्रंथ में नहीं किया गया है। इस संबंध में बाबू श्यामसुंदरदासजी और मुझमें मतैक्य नहीं था। वह त्रिपाठीजी की तरह यह तो नहीं कहते थे कि यह संस्कृत का प्राचीन वाक्य है, परंतु उनकी सम्मति में इसमें ऐसी कोई बात नहीं कि इसका प्रयोग सत्रहवीं शताब्दी का कोई लेखक न कर सके। इसलिये इसके कारण मूल-चरित की प्रामाणिकता पर कोई संदेह नहीं किया जाना चाहिए।

मेरा मत था कि यह तो नहीं कहा जा सकता कि 'सत्यं शिवं सुंदरं' का भाव हमारे यहाँ था ही नहीं, और इस पदावली का प्रयोग प्राचीन काल में असंभव ही था, पर एक तो यह प्राचीन ग्रंथों में मिलता नहीं, दूसरे इसका ब्रह्मसमाज के साथ-साथ आविर्भाव यह संदेह उत्पन्न करता है कि यह 'दि ट्रू, दि गुड और दि ब्यूटीफ़ुल' का उपनिषदी भाषा में अनुवाद है। इसलिये इसके कारण जहाँ एक ओर 'मूल गोसाईं-चरित' निश्चित रूप से जाली नहीं माना जा सकता, वहाँ दूसरी ओर उसका वेणीमाधव-रचित होना भी निश्चत रूप से नहीं माना जा सकता। 'मूल गोसाईं-चरित' पर मैंने अपना स्वतंत्र मत एक निबंध में दिया था, जो १९३५ में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के इंदौरवाले

अधिवेशन में पठनार्थ भेजा गया था। उसके थोड़े समय बाद ही वह 'वीणा' में प्रकाशित हुआ था, और फिर सम्मेलन-निबंधावली में उसमें मैंने 'सत्यं शिवं सुंदरं'-संबंधी विवेचन कुछ विस्तार के साथ दिया है। उसमें मैंने दिखाया है कि सत्यं और शिवं का ब्रह्मपरक प्रयोग अलग-अलग हुआ है, पर 'सुंदरं' का उपनिषदों में कहीं ऐसा प्रयोग नहीं हुआ। परंतु इधर धीरे-धीरे बाबू श्याम-सुंदरदासजी का ही मत पुष्ट होता हुआ दिखाई दे रहा है, क्योंकि संस्कृत में न सही, स्वयं हिंदी में 'शिवं सुंदरं' का एक साथ प्रयोग हुआ है, और वह भी स्वयं गोसाईंजी द्वारा। 'विनय-पत्रिका' के एक पद में शंकर की प्रार्थना करते हुए गोसाईंजी ने कहा है—

कंबु-कुंदेंदु-कर्पूर-गौरं शिवं
सुंदरं सच्चिदानंदकंदं*

विश्वनाथजी को गोस्वामीजी ने 'शिवं सुंदरं' कहा है। यदि वेणीमाधव-दास की कल्पना ने विश्वनाथजी के द्वारा उनके रामचरित-मानस के लिये 'सत्यं शिवं सुंदरं' कहलवा दिया हो, तो क्या आश्चर्य ?

और, यह भी तो संभव है कि 'सत्यं शिवं सुंदरं' इस छंद में हो ही नहीं। हमारे मस्तिष्क में पहली से बैठी हुई यह पदावली हमें भ्रम से उसमें प्रति-भासित हो रही हो। उलटे कामा के भीतर 'सत्यं सिवं सुंदरं' की सारी पदा-वली न होकर केवल 'सत्य' हो, और 'सिवं सुंदरं' 'संकरं' के लिये आया हो। 'सिवं सुंदरं' 'संकरं' के द्वारा दिव्याक्षरों में लिखे 'सत्यं' शब्द को लोगों ने पढ़ा, और उसी की ध्वनि सुनी भी। *यह अर्थ विनय-पत्रिका वाले उपर्युक्त* पद के सर्वथा अनुकूल है।

पं० रामनरेश त्रिपाठी ने 'मूल गोसाईं-चरित' की अप्रामाणिकता उसमें दी हुई तारीखों से भी सिद्ध करने का यत्न किया है। उनका तर्क कुछ-कुछ इस प्रकार का है। जो तारीखें मूल-चरित में गलत दी हुई हैं, वे उसकी अविश्वस-नीयता की प्रमाण हैं, जो सही हैं, वे जाली होने की। परंतु मैं मूल-चरित को जो निश्चित रूप से जाली मानने के लिये अभी तैयार नहीं हूँ, उसका एक कारण यह भी है कि उसमें तारीख की एकाध ऐसी गलती भी है, जो आज कल के किसी जाल रचने वाले से नहीं हो सकती। केशवदास की रामचंद्रिका के प्रणयन और उनके प्रेत-योनि से उद्धार का जो समय मूल-चरित में दिया हुआ है, वह ऐसा ही है। केशवदास का समय बहुत कुछ स्थिर है। अपनी

*—सदा शंकरं शंप्रदं इत्यादि। (पद १२)

रचनाओं में उन्होंने स्पष्ट रूप से तारीखें दी हैं, जो किसी भी जाल रचनेवाले को सरलता से सुलभ हो सकती थीं। इसी प्रकार आजकल का कोई जाल रचनेवाला यह नहीं कह सकता कि प्राकृत कवि केशवदास ने रामचंद्रिका एक ही रात में रच डाली थी।

एक करामात तो त्रिपाठीजी ने बहुत बढ़ी-चढ़ी की है। 'मूल गोसाईं-चरित' के लिये कहा जाता है कि वह गोसाईं-चरित का संक्षेप है। इस गोसाईं-चरित के संबंध में त्रिपाठीजी ने लिखा है—

"शिवसिंह ने उक्त चरित को देखा था या नहीं, इस विषय में मुझे संदेह है। देखा होता, तो कम-से-कम तुलसीदास के जन्म-संवत् में दोनों ग्रंथकारों में मतभेद न होता।...यदि शिवसिंह की यह बात मान भी ली जाय कि उन्होंने वेणीमाधवदास का गोसाईं-चरित देखा था, तो यह भी मान लेना ही चाहिए कि उन्होंने उसे पढ़ा नहीं था।" (पृष्ठ ७४)

शिवसिंह ने गोसाईं-चरित देखा हो या न देखा हो, परंतु इसमें संदेह नहीं कि इस संबंध में त्रिपाठीजी ने 'सिवसिंह-सरोज' नहीं देखा। ऊपर लिखी बात उन्होंने हमारे इस 'संपादन' (त्रिपाठीजी की बोली में) के आधार पर लिखी है, 'शिवसिंह-सरोज' को देखकर नहीं—"गोसाईं-चरित' का सबसे पहला उल्लेख शिवसिंह सेंगर ने 'शिवसिंह-सरोज' में किया है। उन्होंने स्वयं उसे 'देखा' था। पर इस देखने में ध्यान-पूर्वक पढ़ना भी सम्मिलित है, इसमें हमें संदेह है, क्योंकि गोसाईंजी के जन्म का ही संवत् जो शिवसिंह ने दिया है, वह बाबा वेणीमाधवदास के 'मूल गोसाईं-चरित' (में दिए गए संवत्) से नहीं मिलता।" (गोस्वामी तुलसीदास, पृष्ठ २१)

अपने कथन को उन्होंने अपनी नवीन खोज से पुष्ट किया है, जो आगे के इस वाक्य में है—"पढ़ा होता, तो वे संवत् लिखने ही में भूल से न बचते, बल्कि अपने 'सरोज' में वेणीमाधवदास का परिचय और उनके कुछ छंद भी देते जैसा उन्होंने अन्य कवियों के लिये किया था।"

परंतु यदि त्रिपाठीजी ने इस संबंध में 'शिवसिंह-सरोज' पढ़ा होता, तो वे ऐसा कभी न लिखते। या उन्होंने १९३५ की 'वीणा' में 'मूल गोसाईं-चरित की प्रामाणिकता'†-शीर्षक मेरा निबंध ही पढ़ लिया होता, जो उनके इस ग्रंथ

---

†—मेरे निबंध का शीर्षक था 'मूल गोसाईं-चरित की प्रामाणिकता की समस्या', परंतु मंत्री-संपादक महोदय ने अपने कुल्हाड़े से काटकर उसे छोटा कर दिया। इससे उनकी पत्रिका और निबंधावली के लिये बड़े

के छपने के दो वर्ष पहले प्रकाशित हो चुका था, तो उनसे यह गलती न होती। क्योंकि जैसा मैंने उक्त लेख में बताया है, 'सरोज' में शिवसिंह ने वेणीमाधवदास का परिचय और उनकी कविता का उदाहरण भी वैसे ही दिया है, जैसे और कवियों का। वेणीमाधवदास का परिचय यह है—

"१३ दास (२) वेणीमाधवदास, पसका, जिले गोंडा, सं० १६५५ में ३०

यह महात्मा गोस्वामी तुलसीदास के शिष्य उन्हीं के साथ रहते रहे हैं, और गोसाईंजी के जीवन-चरित्र की एक पुस्तक 'गोसाईं-चरित्र' नाम बनाई है। संवत् १६९९ में देहांत हुआ।"*

कविता का उदाहरण यह है—

२७७. दास कवि वेणीमाधवदास पसकावाले

(गोसाईं-चरित्र)

तोटक छंद

यहि भाँति कछू दिन बीति गए,
अपने - अपने रस रंग रए;
मुखिया इक जूथप माँझ रहैं,
हरिदासन को अपमान गहैं। (पृष्ठ १३१)

यह बात ध्यान देने की है कि शिवसिंह ने कविता का जो उदाहरण दिया है, उसे गोसाईं-चरित का बताया है। और, यद्यपि उसमें कहीं गोसाईंजी का उल्लेख नहीं है, तथापि शिवसिंह का विश्वास न करने का कोई कारण नहीं दिखाई पड़ता।

त्रिपाठीजी की यह करामात देखने योग्य है। हमारे तर्कों को उन्होंने 'लचर' कहा है। बिना परिश्रम किए लिखने के लिये उन्होंने लोगों को बुरा-भला कहा है। किसी के प्रयत्नों को दुस्साहस कह देने में तो उनका कुछ लगता ही नहीं। वेणीमाधवदास को उन्होंने इन शब्दों में याद किया है—"एक साधारण तुकबंद ने ग़ैर-जिम्मेदारी के साथ जो कुछ उसके मग़ज में से निकला या निकलवाया गया, बेसिर-पैर के पद्यों में निकालकर रख दिया है। हमें उसका कहाँ तक विश्वास करना चाहिए।" सब तो त्रिपाठीजी कह चुके हैं। हम उनकी कविजनोचित कपोल-कल्पनाओं के लिये क्या कहें।

टाइप में एक पंक्ति का शीर्षक तो बन गया, पर मेरे अभिप्राय का सर्वथा हनन हो गया।

*शिवसिंह 'सरोज' (पृष्ठ ४३२)

यह है त्रिपाठीजी की खोज, जिसके बल पर उन्होंने हिंदी के साहित्यिकों से सातवें आसमान पर से बातें करने का रुख पकड़ा है। ये हैं त्रिपाठीजी के दीये, जो उन्होंने अपनी समझ से रास्ते के किनारों पर छोड़े हैं। उनको आशा है कि साहित्य के "आकुल-व्याकुल" पथिक इनको "हाथ में लेकर साहित्य का राजमार्ग खोज निकालने में समर्थ" होंगे (प्रस्तावना, पृष्ट ५)। और लोग हैं, जो इन्हीं बिना तेल-बत्ती के सकोरों को हाथ में लिये साहित्य का राजमार्ग खोज रहे हैं। हम सोच रहे हैं, साहित्य का क्या होगा ?

त्रिपाठीजी ने भी कोई-कोई बात कितनी सच्ची कही है—"जान पड़ता है, हिंदी में ठोस काम करनेवालों का समय नहीं आया है। साहित्य में एक अंधड़-सा चल रहा है, और साहित्य-पथ के पथिक अंधकार में उद्दिष्ट रास्ते की खोज करते हुए आकुल-व्याकुल की तरह दौड़ रहे हैं।" (प्रस्तावना, पृष्ठ ४-५)।

एक नवीन रस के उद्भावक—हरिश्चंद्र

भक्त दो प्रकार के होते हैं। कुछ का तो मंदिर के गर्भ-गृह, मूर्ति के पास तक प्रवेश होता है और कुछ को अर्गला के पास तक ही जाकर वहीं से अपनी श्रद्धाभक्ति निवेदित कर मंदिर की परिक्रमा कर वापस आजाना पड़ता है। पहले प्रकार के भक्त पुजारी-श्रेणी के भक्त हैं। उनको देवमूर्ति में सोना, काठ, पत्थर और मिट्टी भी दिखाई देती है जो मैली भी हो जाती है, जिसे प्रति दिन धोने और सजाने की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु बाहर-वाले भक्तों को उस मूर्ति में केवल देवत्व दिखायी देता है, जो सदैव निर्मल उज्ज्वल और दीप्तिमान रहता है। इस पूत भावना से स्वयं दीप्तिमान होकर वह अपने देवता के अंतरतम में भी प्रवेश पा सकता है, जबकि पुजारी मूर्ति को धोता, सिंगारता ही रह जाता है। मैं दूसरे प्रकार का भक्त हूँ। परंतु मेरा यह दावा नहीं है कि इस देवमूर्ति के साहित्य-मंदिर की परिक्रमा करके ही मैं उसके अंतरतम में प्रविष्ट हो गया हूँ।

भारतेन्दु हरिश्चंद का कार्य इतना महान् है कि उसकी परिक्रमा कर पाना भी बहुत कठिन है। साहित्य के विभिन्न अंगों की पूर्ति करते हुए उन्होंने अनगिनित रचनाओं का निर्माण किया। साहित्य-शास्त्र, काव्य, रूपक, इतिहास, उपन्यास आदि साहित्य का कोई ऐसा अंग नहीं जिस पर उन्होंने लेखनी न चलायी हो और जिसे सौंदर्य न प्रदान किया हो। साहित्य के इतने विस्तृत क्षेत्र में कार्य करते हुए उन्होंने अपनी दृष्टि भी उतनी ही उदार विस्तृत और व्यापक रखी। यह छोटा सा पद्य जिसे वे सिद्धान्तवाक्य की तरह काम में लाते थे, उनकी इस उदार दृष्टि का सूचक है—

"खल गनन सों सज्जन दुखी मत होहिं हरिपद रति रहै।
अधर्म छूटै, सत्व निज भारत गहै कर-दुख बहै॥
बुध तजहिं मत्सर, नारि नर सम होहिं जग आनंद लहै।
तजि ग्राम-कविता सुकवि जन की अमृत बानी सब कहै॥"

उस काल में जो व्यक्ति धार्मिक कट्टरता की दीवाल को तोड़ कर सम्प्र-

दाय-बुद्धि के दूर होने की प्रार्थना कर सकता था, उसकी उदारता के लिए दूसरे प्रमाण की आवश्यकता नहीं। इसी उदार दृष्टि द्वारा वे तत्कालीन जीवन के परिष्कार में प्रवृत्त हुए थे। उपर्युक्त पद्य से स्पष्ट है कि जीवन का कोई ऐसा अंग नहीं जिसकी ओर उनकी यह उदार किन्तु पैनी दृष्टि न गयी हो। शिक्षा-प्रचार, समाज-सुधार, धर्मार्दार्य आदि महत्वशाली कार्यों में उन्होंने अपनी लेखनी और जीवन दोनों को लगा दिया। अपने इन महान उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयत्न उन्होंने स्वयम् व्यावहारिक रूप से भी किया और अपने निर्माण किये हुए वृहत्काय साहित्य के द्वारा भी। आश्चर्य यह है कि जिस अवस्था से आजकल हम अपना जीवन आरंभ भी नहीं कर पाते उस अवस्था में वे अपने जीवन के वृहत्कार्य को समाप्त कर शाश्वदात्मा में लीन हो गये थे। आज हम देश में जिन-जिन आंदोलनों का (उपाय भेद का नहीं) विशेष प्रचार देख रहे हैं उनका आरंभ हरिश्चन्द्रजी निर्मित साहित्य ही से हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि बहुत लिखने के कारण ही भारतेन्दु का महत्व नहीं है, परन्तु इस लिए भी कि उन्होंने जो कुछ लिखा है वह तत्वपूर्ण है। इसीलिए उनका हमारे जीवन पर ही नहीं साहित्य की गति-विधि पर भी घनिष्ट प्रभाव पड़ा है।

ऐसे बहुत कम लोग हैं जिनकी कृतियों से साहित्य-शास्त्र के सिद्धान्तों पर प्रभाव पड़ सकता है। परन्तु यह अद्वितीय महत्व भी भारतेन्दु को प्राप्त है। हमारे साहित्य-शास्त्र के आज तक के विकास का परिणाम रस-पद्धति है। रस-पद्धति में काव्यालोचन के सिद्धान्तों का मनोवैज्ञानिक निरूपण किया गया है। रस, आप जानते हैं कि वह आनन्द है जो किसी भाव के उदय होने से लेकर परिपक्वावस्था तक उपयुक्त सांगोपांग परिस्थितियों के बीच निर्वाह को अनुभूति-पथ में ले आने से होता है। परंतु इस प्रकार सांगोपांग परिस्थितियों में उसी भाव का निर्वाह हो सकता है जो तल्लीनता की अवस्था ले आनेवाला हो, प्लावनकारी हो, और भावों को अपने में डुबाता चले। ऐसे भावों को स्थायी भाव कहते हैं। जो भाव ऐसे नहीं हैं, उन्हें संचारी भाव कहते हैं, क्योंकि वे स्थायी भाव को आगे बढ़ाकर उनसे संचरण का कार्य करवाते हैं। स्थायी भाव नौ माने जाते हैं—आश्चर्य, उत्साह, हास, शोक, भय, क्रोध, जुगुप्सा, निर्वेद, रति। इन भावों का हृदय पर इतना अधिकार है कि अनुकूल परिस्थितियों में ये रस के रूप में आविर्भूत हो जाते हैं। स्थायी भाव विभाग इतना पूर्ण है कि संभवतः इसमें परिवर्तन करना अशक्य है। परन्तु आलंबन के भेद से इनके उपभेद हो सकते हैं। दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर आदि में उत्साह

के उपभेदों के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार आलम्बन-भेद से रति के भी उपभेद हो सकते हैं। रति के भाव को शृंगार अथवा दाम्पत्य-प्रेम में ही समाप्त समझना उसके क्षेत्र को संकुचित करना है। बहुत प्राचीन काल से लोग इसका अनुभव करते आये हैं। वात्सल्य रस इसका एक प्रमाण है। हिन्दी में सूर के काव्य को पढ़कर वात्सल्य के रसत्व में किसे सन्देह हो सकता है? वात्सल्य भी रति ही के अन्तर्गत है। भेद इतना ही है कि उसमें आलम्बन अपत्य है। किन्तु उसे दसवां रस न मानकर विशाल प्रेमरस का एक उपभेद मात्र समझना चाहिए। इसी प्रकार मध्य-युग के साधु-सन्तों ने प्रेम-रस के एक और उपभेद की ओर ध्यान आकृष्ट किया जिसे भक्ति अथवा भगवद्-भक्ति-रस कह सकते हैं। इसमें रति का आलम्बन भगवान् होते हैं। लोगों का ख्याल है कि साहित्यिक व्यक्ति भगवद्भक्ति से विरत रहते हैं। इसमें शायद सन्देह की जगह नहीं कि साहित्य-रसिक शुष्क विरक्ति को नहीं पसंद कर सकते। परन्तु यह कहना कि वे भक्ति-रस से भी विरत रहते हैं उनकी रसिकता पर आघात करना है। इसके विपरीत साहित्यिक तो यह मानते हैं कि जिन्होंने भक्ति-रस का आस्वादन नहीं किया 'रस-विशेष जाना तिन नाहीं।' स्वयं हरिश्चन्द्रजी इस रस मे ओत-प्रोत थे। हरिश्चन्द्रजी की रचनाओं तथा जीवनी से प्रेम-रस के एक और उपभेद की अवस्थिति की संभावना दिखायी दी और वह है देश-भक्ति-रस।

देश-भक्ति का भाव ही पहले नहीं विद्यमान था, यह तात्पर्य नहीं। संस्कृत का "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" तो प्रसिद्ध ही है। गोसाईं तुलसीदासजी ने भी राम से कहलाया है—

"जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि।
उत्तर दिसि सरयू बह पावनि॥
यद्यपि सब वैकुण्ठ बखाना।
वेद-पुरान विदित जग जाना॥
अवध सरसि मोंहि प्रिय नहिं सोऊ।
यह प्रसंग जानै कोउ-कोऊ॥"

और भी—

अति प्रिय मोंहि यहाँ के वासी।
मम धामदा पुरी सुखरासी॥

परन्तु ये केवल छींटे ही थे। हरिश्चन्द्रजी ने तो इसकी धारा ही बहा डाली। उनकी रचनाओं में देश-रति के भाव को स्थायित्व प्राप्त

हुआ है। क्योंकि देश-भक्ति स्वयं उनके जीवन में व्याप्त थी। उनके सब कर्म बहुधा देश-प्रेम की ही प्रेरणा के फलस्वरूप दृष्टिगत होते थे। भाषा, साहित्य, समाज, धर्म सब का सुधार वे देशोन्नति के लिए ही चाहते थे। उस उदारता के उदाहरण-स्वरूप ऊपर उनका जो पद उद्धृत किया गया है, वह उनकी उत्कट देश-भक्ति का परिचायक है। उनके निर्मित अधिकांश साहित्य में यही भाव प्रमुख है। यह तो सभी जानते हैं कि दान-वीरता उनकी जीवनी में उनके देश-प्रेम की संचारी थी। देश-रति ही के कारण वे मिश्र में भारतीय सेना की विजय पर उछल पड़ते हैं, भारत की दुर्दशा पर आंसू गिराते हैं, देश की उन्नति के लिए स्वयं प्रयत्नशील होते हैं और समाज को उद्बोधित कर प्रयत्न में लगाते हैं—तथा परमात्मा से उसकी उन्नति की प्रार्थना करते हैं। उनके हर्ष, चिंता, स्मृति, मति, विषाद, आदि सब देश-प्रेम के संचारी हैं। देश-प्रेम का भाव उनकी कुछ रचनाओं इतना में प्रबल है कि एकाध स्थायी भाव भी उसके सम्बन्ध में संचारी हो गये हैं। 'भारत-दुर्दशा' में शोक का बहुत प्राधान्य है। परन्तु यह शोक देश-प्रेम का ही संचारी है—

रोवहु सब मिलि कै आवहु भारत भाई।
हाहा ! भारतदुर्दशा न देखी जाई। ध्रुव
सबके पहिले जेहि ईश्वर धन बल दीनो।
सबके पहिले जेहि सभ्य विधाता कीनो।

सबके पहिले जो रूप रंग रस भीनो।
सबके पहिले विद्याफल जिन गहि लीनो।
अब सबके पीछे सोई परत लखाई।
हा-हा भारतदुर्दशा न देखी जाई।

जहँ भये शाक्य हरिचन्दरु नहुष ययाती।
जहँ राम, युधिष्ठिर, बासुदेव, सर्याती।
जहँ भीम, करन, अर्जुन की छटा दिखाती।
तहँ रही मूढ़ता, कलह, अविद्या राती।

अब जहँ देखहु तहँ दुःखहि दुःख दिखाई।
हा हा ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई।
लरि बैदिक जैन डुबाई पुस्तक सारी।
करि कलह बुलाई जवनसैन पुनि भारी।

तिन नासी बुधि बल विद्या धन बहु भारी।
छाई अब आलस कुमति-कलह-अँधियारी।
भय-अन्ध पंगु सब दीन-हीन बिलगाई।
हा हा! भारतदुर्दशा न देखी जाई।

—इत्यादि

भारत की महिमा दिखलाते हुए इसी नाटक में भारतेन्दुजी ने लिखा हैः—

याही भुव महँ होत हैं हीरक आम कपास।
इतही हिमगिरि गंग-जल काव्य-गीत प्रकास।
जाबाली जैमिनि गरग पतंजलि सुकदेव।
रहे भारतहि अंक में कबहुँ सबै भुवदेव।

याही भारत मध्य में रहे कृष्ण मुनि व्यास।
जिनके भारत गानसों भारतबदन प्रकास।
याही भारत में रहे कपिल सूत दुरवास।
याही भारत में भये शाक्यसिंह सन्यास।

याही भारत में गये, मनु भृगु आदिक होय।
तब तिनसों जग में रह्यो घृना करत नहिं कोय।
जासु काव्य सों जगत मधि अबलौं ऊँचो सीस।
जासु राज-बल धर्म की तृषा करहि अवनीस।

सोई व्यास अरु राम के वंस सबै संतान।
ये मेरे भारत भरे सोइ गुन रूप समान।
सोई वंश रुधिर वही सोई मन विश्वास।
वही वासना चित वही, आसय वही विलास।

कोटि-कोटि ऋषि पुन्य तन कोटि-कोटि अतिसूर।
कोटि-कोटि बुध मधुर कवि मिले यहाँ की धूर।
सोइ भारत की आज यह भई दुरदसा हाय।
कहा करै कित जायँ नहिं सूझत कछू उपाय।

वही भाव स्थायी हो सकता है जिसमें गहरी तन्मयता हो। सम्भवतः दो एक शताब्दी पहले लोगों को यह समझ सकने में कठिनाई होती कि देश-प्रेम किस प्रकार स्थायी भाव के अन्तर्गत आ सकता है। भारत-भारती में इसी कारण सरस काव्य का अभाव माना जाता था। किन्तु अब जब

लोग देश-प्रेम के पीछे संसार के बड़े से बड़े सुख-वैभव को बिना किसी कसक के साथ छोड़ते हैं और घोर से घोर संकट का सुख के साथ आवाहन करते तथा जेल की यातना को बड़े आनन्द के साथ आलिंगन करते देखे जा रहे हैं, तब देश-प्रेम के स्थायी भावत्व को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। इस प्रकार देश-प्रेम का स्थायित्व सैद्धान्तिक रूप से ही नहीं व्यावहारिक रूप से भी प्रकट हो गया है। इतना ही नहीं आजकल की परिस्थितियों में तो ऐसा जान पड़ता है कि देश-रति ने दाम्पत्य-रति को भी बहुत कुछ प्रभावित कर डाला है। कविसम्राट् 'हरिऔध जी' जैसे सतर्क कवि का भी नायिका-भेद में देश-प्रेमिनी, जाति-प्रेमिनी आदि नायिकाओं को स्थान देना इसका उत्कट प्रमाण है:—

जाति-प्रेमिका

सरसी समाज-सुख-सरसिज-पुंज की है,
सुरुचि-सलिल की रुचिर सफरी सी है।
नाना कुल-कालिमा-कलुख की कलिंदजा है,
कल-करतूत-मंजु-मालिका लरी सी है॥
'हरिऔध' बहु-भ्रम-भँवर समूह भरी,
सकल-कुरीति-सरि सबल-तरी सी है।
जाति-हित-पादप-जमात - नव-जीवन है,
जाति-जन-जीवन सजीवन जरी सी है॥८॥

देश-प्रेमिका

वारती नगर पर मंजु-अमरावती को,
नागर निकर को पुरंदर है जानती।
धेनु को कहति कामधेनु सम काम-प्रद,
कामिनी को सुर-कामिनी है अनुमानती॥
'हरिऔध' भारत-अवनि-अनुराग-वती,
विपिन को नंदन-विपिन है बखानती।
तरु को बतावति कलपतरु कमनीय,
मेरु को मनोरम सुमेरु ते है मानती॥११॥

—रस-कलस

इसमें भी सन्देह नहीं कि परिस्थितियों के इस परिवर्तन में हरिश्चन्द्रजी का बहुत कुछ हाथ रहा है। क्योंकि साहित्य, जन-समाज की मानसिक

अवस्था का परिचायक होने के साथ-साथ उसमें प्रगति उत्पन्न करने का कारण भी होता है, और श्रीधर पाठक के 'भारत गीत', मैथिलीशरण जी गुप्त की 'भारत-भारती' तथा 'प्रसाद' जी के "निछावर कर दें हम सर्वस्व हमारा प्यारा भारतवर्ष" आदि में निर्मल धारा बह रही है, उसका गोमुख हरिश्चन्द्रजी के ही काव्य में है।

निबन्धकार द्विवेदी

काशी की नागरी प्रचारिणी सभा द्विवेदी का अभिनंदन करने जा रही थी। वातावरण में अभिनंदन की चर्चा व्याप रही थी। उसे दृष्टि में रखकर एक अहिंदी-भाषी धुरंधर विद्वान ने एक हिंदी-भाषी विद्वान से पूछा—क्या द्विवेदी जी की रचना के किसी अनपहचाने अंश के सामने आते ही यह कहा जा सकता है कि यह उनके अतिरिक्त किसी दूसरे का हो नहीं सकता? साहित्यिक यशस्विता के लिए यह आवश्यक है कि लेखक के निर्मित साहित्य में उनके व्यक्तित्व की छाप हो।

पाश्चात्य-साहित्य में, जो निबंधों के लिए भी आधुनिक प्राच्यों का आदर्श है, निबंधों का जिस प्रकार सूत्रपात हुआ उससे वह यहाँ अब भी विशेष रूप से वैयक्तिक रूप रचना समझी जाती है। इससे उसमें लेखक के व्यक्तित्व की छाप की आशा और भी बलवती हो जाती है। परंतु द्विवेदी जी के निबंधों में न मन की चहक है और न भाषा की रंगीनी तथा चुलबुलाहट; जिनमें अधिकतर व्यक्ति की विलक्षणता दिखायी देती है।

शुक्ल ने इसी बात की ओर संकेत किया है। वस्तुतः द्विवेदी जी ने थोड़े से सीमित विषयों पर अपनी तीव्र अंतर्दृष्टि का प्रयोग करने की अपेक्षा अपनी विशेष परिस्थिति में यही कल्याणकर समझा कि जगत में उच्च श्रेणी के विद्वान् ज्ञान की जो सामग्री प्रस्तुत कर रहे हैं, उसका जनता को परिचय करा दिया जाय। अर्थात् वे व्यापक अर्थ में ज्ञान-विज्ञान के पत्रकार थे और पत्रकार भी साहित्यिक अभिरुचि के।

परंतु उनके रचे ऐसे निबंधों का भी सर्वथा अभाव नहीं है, जिनमें की बातें उन्हीं के परिश्रम के फल हैं। कवि सुखदेवमिश्र पर उनका लिखा हुआ निबंध इसका उदाहरण है। रसज्ञ रंजन में प्रकाशित 'कवि और कविता' शीर्षक उनका निबंध भी मौलिक रचना मानी जानी चाहिए। जहाँ उन्होंने दूसरों के विचारों को निबंधरूप में रक्खा है, वहाँ भी उन्होंने केवल अनुवादक का काम नहीं किया है। दूसरे विचारों को मानसिक-पाचन के द्वारा वे सर्वथा अपना लेते थे, और इस प्रकार उन्हें वे अपन निबंधों में जनता के सामने रखते थे कि वे मौलिक से लगने लगते थे, यद्यपि वे मूलस्रोत का सदैव उल्लेख कर देते थे। उनके अनुवादों के संबंध में भी यही कहा जा सकता है।

बात यह है कि उनके निबधों में वह मूल गुण विद्यमान है, जिसके कारण निबंध नाम सार्थक हो सकता है। उनके निबंध बँधे हुए हैं, सुगठित हैं। उनकी विचार-परंपरा गतिमय किंतु गुंफित तथा रचना व्यवस्थित है। शिथिलता का उनमें नाम नहीं। कहीं-कहीं पर अपनी बातों को उन्होंने दुहराया अवश्य है, परंतु ऐसे स्थल सर्वदा समझाने के लिए पुनरुक्ति मात्र नहीं हैं, केवल व्याख्यानी ढंग नहीं, तद्गत विषय के संबंध में उनके हृदय के उत्साह को भी सूचित करते हैं, इसलिए शैथिल्य के द्योतक नहीं। देखिये—"नेत्रधारियों के नेत्रों को यदि आपका रूप देखने को मिल जाय तो मानो उन्हें सब-कुछमिल गया- उन्हें समस्त अर्था की प्राप्ति हो गयी, वे सफल हो गये। आपके गुण-समुच्चय और रूपराशि का वर्णन दूसरों के मुख से सुन कर मैं आप पर मुग्ध हो गयी हूँ—मेरा निर्लज्ज मन आप पर आसक्त हो गया है।"

उनके निबंधों को नीरस या शुष्क कहना ठीक नहीं। द्विवेदीजी के निबंध विचारात्मक और विचारोत्तेजक हैं और इसी कारण गंभीर भी, परंतु वे सर्वथा नीरस नहीं कहे जा सकते। वे चाहे शास्त्रीय अर्थ में रसवान न हों, पर रोचक अवश्य हैं। द्विवेदीजी केवल मस्तिष्क को ही सजग नहीं रखते थे, कभी-कभी हृदय के प्रभाव को भी विना रुकावट बहने देते थे। श्रीमद्भागवत

से उनको बड़ा प्रेम था। 'रुक्मिणी हरण' शीर्षक निबंध में उन्होंने जिस उत्साह और तल्लीनता के साथ उसका स्मरण किया है, वह देखने योग्य है—

श्रीमद्भागवत में एक नहीं, अनेक स्थल ऐसे हैं, जो महाकवियों की भी वाणी को मात करने वाले हैं। वे उत्कृष्ट कविता के नमूने हैं। वे अत्यंत सरस, सालंकार और प्रसाद गुण दर्पण हैं। किसी किसी स्थल में तो प्रकृत रस का इतना अधिक परिपाक हुआ है कि उस स्थल की रचना के आस्वादन में हृदय तल्लीन हो जाता है, कुछ समय के लिए आत्मा विस्मृत सी हो जाती है और मालूम होने लगता है कि आकलन कर्त्ता का मन किसी और उच्चलोक में विहार कर रहा है। उस समय आधि-व्याधियाँ भूल जाती हैं और हृदय में अनिर्वचनीय सात्विक भावों का उदय हो आता है।"

काव्यानंद की परिभाषा का यह क्रियात्मक रूप स्वयं काव्य की कोटि तक पहुँचा हुआ दिखाई देता है।

तानेजनी में द्विवेदीजी का मन खूब रमा हुआ जान पड़ता है। जहाँ कहीं इसके लिए उन्हें अवसर मिलता है, वहाँ उनकी उमंग के चारुदर्शन होते हैं और पढ़नेवाला भी बिना उसके कटाक्ष के औचित्यानौचित्य की परवा किये उनके आनंद में भागी हो जाता है। पुस्तकालोचन संबंधी निबंधों में उन्हें ऐसे अवसर बहुधा मिला करते थे। आर्यों की जन्मभूमि संबंधी कुछ मतों की उन्होंने एक निबंध में समीक्षा की है। एक भारतीय विद्वान् के मत के विरोधी एक विदेशी विद्वान् को उन्होंने इस प्रकार याद किया है—

"दास महाशय के सिद्धांतों और मतों का ज्ञान प्राप्त करके समालोचक साहब के होश उड़ गये हैं। आपकी राय है कि दासबाबू ने अपनी यह पुस्तक लिखकर बड़े साहस का काम किया है, योरुप के पुरातत्वज्ञ ऐसी बातें सुनने के आदी नहीं; लेखक के निष्कर्षों का आधार उनका कथन-मात्र है, इसलिए भय्या, हम और कुछ नहीं कहते हमतो बस इतनाही इशारा करके कलम को कलमदान के हवाले करते हैं।"

भवभूति के एक नाटक के एक अनुवाद पर उनकी यह चपेट देखिए— 'कहाँ भवभूति की सरस प्रासादिक और महा आल्हाद दायनी कविता और कहाँ अनुवादकजी की नीरस, अव्यवस्थित और दोष-दग्ध अनुवाद माला! परस्पर दोनों में सौरस्य विषयक कोई सादृश्य नहीं। कौड़ी-मोहर, आकाश-पाताल और ईख इंद्रायण का अंतर।

उनकी इस प्रकार की चपेटें कभी-कभी बहुत कटु भी होजाया करती थीं, परंतु वह कटुता भी सर्वथा विरस नहीं कही जा सकती।

रचना चाहे जिस प्रकार की भी उन्होंने की, इस बात का ध्यान उन्होंने कभी नहीं छोड़ा कि उनके निबंध कुछ चुने हुए व्यक्तियों के लिए ही नहीं लिखे जारहे हैं किंतु सर्वसामान्य के लिए। भाषा चमत्कार के फेर में पड़कर उन्होंने कभी नहीं लिखा। उनकी रचना उनके पाठकों और उनके अभिप्राय के बीच में अवच्छेद का काम नहीं करती। वह ऋजु, सुगठित, व्यवस्थित और प्रसन्न है।

परंतु ये कोई विशेषताएँ नहीं, जिनसे हम द्विवेदीजी की रचना को अलग पहचान सकें। द्विवेदीजी की विशेषता ही यह है कि उनकी रचना विशेषता अथवा विलक्षणता से विहीन है। जिस समय उन्होंने लिखना आरंभ किया था, उस समय की रचनाओं में लेखकों का व्यक्तित्व इतना आतिशय्यपूर्ण था कि भाषा का व्यक्तित्व ही न बन पाता था। व्यक्तिगत विलक्षणता रचना को रोचक तो अवश्य बना देती है, परंतु पहले यह आवश्यक है कि रचना में वह स्थिर तत्व भी विद्यमान हो, जिस पर विलक्षणता का परिवर्तनशील आभरण अटके। द्विवेदीजी ने यही स्थिर तत्व भाषा को प्रदान किया; परंतु विलक्षणताओं के उस युग में व्यक्तिगत विलक्षण-हीनता भी एक विलक्षणता अवश्य रही होगी। इसलिए उस समय द्विवेदीजी की भी एक शैली या ढंग कहा जा सकता रहा होगा और उनकी अधिकाँश रचनाओं से परिचित व्यक्ति उनकी अनजानी रचना को पहचानने में समर्थ हो सकता होगा। परंतु आगे चलकर जब द्विवेदीजी का दिखाया हुआ मार्ग लोगों को रुच गया और अधिकाधिक चलता होगया तब द्विवेदीजी की शैली (मैनर) द्विवेदीजी की न रहकर उनके असंख्य अनुयायियों के द्वारा प्रायः संपूर्ण भाषा की रीति (स्टाइल) हो गयी। आज द्विवेदीजी के निबंधों में उनके व्यक्तित्व की छाप नहीं दिखाई देती—इसलिए नहीं कि द्विवेदीजी का ही व्यक्तित्व उनकी रचनाओं में नहीं है, वरन् इसलिए कि उनका व्यक्तित्व विकसित होकर एक अधिक व्यापक व्यक्तित्व में परिणत हो गया है।

'स्टाइल इज़ दि मैन' सरीखी एकांगी उक्तियों से छोटे लोगों की माप हो सकती है, द्विवेदीजी सरीखे दिग्गज के लिए वह बहुत छोटा गज है।

स्वर्गीय पं० रामचन्द्र शुक्ल

तीन तारीख फर्वरी (सन् १९४१ ई०) के प्रातःकाल 'पहाड़ी' जी ने रेडियो स्टेशन से आकर बताया कि पंडित रामचन्द्र शुक्ल अब इस संसार में नहीं हैं ! मैं ठक सा रह गया। विश्वास करने को जी नहीं करता था। १८ जनवरी को वे लखनऊ विश्वविद्यालय की पाठ्यक्रम-समिति में सम्मिलित हुए थे और मेरे यहाँ ठहरे थे। काशी-विश्वविद्यालय की हिन्दी-साहित्य-समिति की ओर से एक चिट्ठी, जिस में उन्होंने हस्ताक्षर किए थे, मुझे तीन ही चार दिन पहले मिली थी। कौन जानता था कि इतने शीघ्र ही अनभ्र वज्रपात हो जायगा ? शायद समाचार गलत हो, कुछ समय तक यह आशा बनी रही। किंतु जब काशी से आकर डाक्टर केसरीनारायण शुक्ल ने बताया तो पता चला कि वह आशा निराशा ही थी।

शुक्ल जी का निधन समस्त हिन्दी-जगत् के लिए एक अतुलनीय दुःखद घटना है। उनके शिष्यों और सहयोगियों के लिए तो, जिन के हृदय में वे घर कर गये थे और जिनके लिए उनके हृदय में जगह थी, यह उसी प्रकार व्यक्तिगत क्षति है जैसे उनके परिवार के लिए। मैंने छ-सात वर्षों तक उनके चरणों में बैठकर शिक्षा ग्रहण की है और उतने अधिक समय तक अध्यापन कार्य में मैं उनका सहयोगी रहा। इस बीच उनके हृदय के सौंदर्य का दर्शन करने का जो सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ उसने इस समय मेरे शोक को अत्यंत तीव्र कर दिया है। हिन्दी-साहित्य का तो आज एक स्तंभ टूट गया है। उनके निधन से इसकी जो क्षति हुई है वह अनुमान लगाने की बात नहीं। हिन्दी के विभिन्न क्षेत्रों को उनकी प्रतिभा का दान मिला है और ऐसा कोई विषय नहीं जिसे उन्होंने छुआ हो और अलंकृत न कर दिया हो।

हिन्दी-जगत् में शुक्ल जी अद्वितीय निबंधकार थे। उनके निबंध हिन्दी की अमूल्य निधि हैं। निबंधों के लिये उन्होंने मनोविज्ञान की कठिन भूमि को चुना। करुणा, क्रोध, भय, उत्साह, लोभ और प्रीति, श्रद्धा-भक्ति,

लज्जा और ग्लानि आदि विषयों पर उन्होंने निबंध लिखे। उनकी दृष्टि विस्तृत किंतु अत्यंत पैनी थी। उनका विश्लेषण गहरा और विवेचन सूक्ष्म होता था। विचारों की गहराई के कारण उनकी भाषा का कहीं-कहीं दुरूह हो जाना आवश्यक था, किंतु, उन्होंने सदैव विषय को इस निपुणता के साथ स्पष्ट किया है कि पाठक यदि थोड़ा सा प्रयत्न करे तो जटिल-से-जटिल गुत्थी शीघ्र ही खुल जाती है। उनका दृष्टिकोण दार्शनिक था। हेकल के 'रीडल ऑव दि यूनिवर्स' का उन्होंने हिन्दी अनुवाद किया था। उसकी भूमिका के रूप में उन्होंने जो विवेचन दिया है, उससे उनके दर्शनशास्त्र के पांडित्य का पता चलता है।

हिन्दी-शब्दसागर हिन्दी का सबसे बड़ा कोष है जो गहन पांडित्य और वर्षों के अनवरत अध्यवसाय का परिणाम है। उसके सहकारी संपादकों में शुक्ल जी प्रमुख थे। उस यज्ञ के सफलता से पूर्ण होने में शुक्ल जी के पांडित्य और उनकी प्रतिभा का बड़ा हाथ था। हम कह सकते हैं कि शुक्ल जी की प्रतिभा ने शब्दसागर को गहराई प्रदान की थी।

साहित्य की गति-विधियों और प्रवृत्तियों का युगानुरूप निरूपण करते हुए हिन्दी-साहित्य का प्रथम इतिहास उन्होंने निर्मित किया। उस इतिहास को पढ़ने से पता चलता है कि शुक्ल जी का हिन्दी-साहित्य का ज्ञान कितना गहरा था। हिन्दी-साहित्य की पूरी कहानी तो उन्होंने अपने उक्त ग्रंथ में दी ही है, उसके साथ-साथ उन्होंने विभिन्न कवियों पर जो मार्मिक दृष्टि डाली है और उनकी विशेषताओं का स्पष्टीकरण किया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

साहित्य के इतिहास में ही नहीं सामान्यतया इतिहास में भी उनकी गहरी रुचि थी। इसी रुचि के कारण उन्होंने मेगास्थनीज के भारतीय विवरण को हिन्दी-रूप दिया था और फारस का एक इतिहास बड़ी छानबीन के बाद लिखा था।

हिन्दी में नवीन आलोचना का सूत्रपात तो एक प्रकार से शुक्ल जी ने ही किया है। आलोचना के क्षेत्र में निर्णय दे देने भर की प्रवृत्ति को उन्होंने उतना प्रश्रय नहीं दिया, उन्होंने प्रधानता दी आलोचना के व्याख्यात्मक स्वरूप को। जिन परिस्थितियों में कवि या लेखक का उदय हुआ, उसके मस्तिष्क का निर्माण हुआ, उसकी प्रवृत्तियों को रूपाकार मिला, पृष्ठभूमि के रूप में उनका वर्णन करके उन्होंने रचना के अंतरतम में ।वेश किया और उसकी बहुविध विशेषतायें दिखलाईं। इस प्रकार उन्होंने

काव्य के अध्ययन के सम्बन्ध में वह परिस्थिति उपस्थित की जिसने पाठक अपने आपको उस स्थिति में अनुभव करें जिस स्थिति में अनुभव करके रचयिता ने अपनी रचना का निर्माण किया। यह समानुभूति शुक्ल जी की विशेषता है, जिसने उनकी तीव्र अंतर्दृष्टि को वस्तुतः तथ्य-निरूपण में समर्थ बनाया।

'हिन्दी काव्य में रहस्यवाद' में उनकी आलोचनात्मक दृष्टि पूर्ण प्रखरता के साथ प्रकट हुई। प्रखरता ने उसमें समानुभूति को थोड़ी देर के लिए एक ओर ढकेल दिया था, परंतु बहुत समय तक यह बात न रही और आधुनिक काव्य के संबंध में भी वह समानुभूति उनके हिन्दी-साहित्य के इतिहास के नवीन संस्करण में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित दिखाई दे रही है

पर शुक्ल जी सहित्य के समर्थ विश्लेषक और साहित्य-सिद्धांत के शुष्क विवेचक ही नहीं थे, वे स्वयं भी भावुक कवि थे। उनका प्रसिद्ध काव्य 'बुद्ध चरित' उनकी ओर से साहित्य को एक बहुमूल्य देन है। ब्रजभाषा के ऊपर यह लांछन लगाया जाता था कि उसमें कोई उच्चकोटि का महाकाव्य नहीं है, जो कुछ बने भी वे सर्वप्रिय न हो सके। शुक्ल जी के इस ग्रंथ ने इस अभाव की पूर्ति की। यद्यपि आर्नल्ड के 'लाइट आँव एशिया' के आधार पर इस काव्य का प्रणयन हुआ है फिर भी आनंद आता है इसमें स्वतंत्र काव्य का सा ही और यह पता नहीं चलता कि विदेशी भाषा में लिखे किसी ग्रंथ की इसमें छाया भी है।

उनकी स्फुट कविताओं की संख्या भी काफी है। उन्होंने अपनी कुछ कविताओं का शीर्षक रखा था 'हृदय के मधुर भार'। ये कविताएँ सचमुच उनके हृदय के मधुर भार को वहन करने वाली हैं और इस प्रकार सच्ची कविताएँ हैं। किंतु, उनमें भी उनका चिंतक स्वरूप छूटा नहीं। उनकी भावुकता भी इनमें दार्शनिकता का आवरण पहन कर आई है। कुछ लोगों के लिए इस आवरण को भेद कर उनकी भावुकता का दर्शन करना कठिन हो जाता है। इसलिए उनकी कविता के वास्तविक मूल्य का अंकन नहीं हो पाता।

स्वयं शुक्ल जी का विचार था कि उनका स्वाभाविक क्षेत्र रचनात्मक साहित्य है। उन्हें बड़ा भावुक हृदय मिला था। रचनात्मक साहित्य को छोड़ कर आलोचना और अध्यापन के क्षेत्र में आने में उन्हें बड़ा त्याग करना पड़ा। सहित्य के अपने गहरे ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाने के उद्देश्य से उन्होंने सृष्टा होने के अमिट आनंद का परित्याग कर दिया। परंतु थोड़ा-सा दुख इस बात का

उनके अंतरतम में बना ही रहा कि दूसरों की ही कृतियों का पर्यालोचन करने को बाध्य होना पड़ता है और अपनी ही सृष्टि करने के लिये अनवच्छिन्न अवकाश नहीं मिलता। यदि यह अवकाश उन्हें मिला होता तो वे साहित्य को अवश्य ऐसा अभिनव दान दे जाते, जो विस्तार और गहराई दोनों में महान् होता।

किंतु, इस त्याग से जहाँ हम एक क्षेत्र के दान से वंचित रहे, वहाँ दूसरे क्षेत्र में उसने इस कमी को कहीं अधिक मात्रा में पूरा कर दिया। इससे हमें अत्यंत उत्कृष्ट आलोचनाएँ प्राप्त हुईं और हिन्दी-साहित्य के गहन अध्ययन का विद्यार्थियों में विकास हुआ। इतना ही नहीं उनके स्रष्टा स्वरूप ने उनकी आलोचनाओं को भी केवल अलोचना से ऊपर उठा कर वह रूप दे दिया है जिससे वे स्वयं रचनात्मक स्थायी साहित्य की कोटि में आ गईं। उनकी आलोचनाओं को पढ़ते समय केवल मस्तिष्क ही सक्रिय नहीं होता, हृदय का भी विस्तार होता है : 'गोस्वामी तुलसी दास' में राम-राज्य की व्याख्या पढ़ते हुए हृदय में अपने आप तरंग मालाएँ उठ आती हैं। और, ऐसे स्थल उनकी रचनाओं मे विरल नहीं हैं।

भाषा के ऊपर शुक्ल जी का बड़ा अधिकार था। उनके सूक्ष्म विचारों ने उसे उन्हें व्यक्त करने में क्षम बनाया। परंतु वे स्वयं भाषा के विद्वान् और अधिकारी लेखक ही नहीं थे, भाषा-शास्त्र के प्रगाढ़ पंडित भी थे। इसका पता उनके बुद्धचरित के आरंभ में दिये हुए निबंध से चलता है, जिसमें उन्होंने व्रज, अवधी और खड़ी का भेद दिखाया है।

शुक्ल जी का व्यक्तित्व उनकी विद्वत्ता से भी अधिक आकर्षक था। पांडित्य और सौजन्य का उनमें दुर्लभ मणि-कांचन-संयोग था। वे बड़े सरल और निरभिमान थे। पांडित्य का गर्व उनको छू भी न गया था। उनकी मुद्रा पहले दूर से उनके प्रति आदर भाव उत्पन्न करती थी। पहले-पहल देखनेवालों को वे दूर-दूर हटे-से लगते थे। किंतु धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों उनके साथ संपर्क बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों व्यक्ति उनको अपने निकट से निकट पाता था। वे जितने ही सरल थे उतन ही तरल भी। उनका हृदय सबके लिए सद्भाव और स्नेह-भरा रहता था। जो उनके संपर्क में आता, उसके हृदय में उनके लिए श्रद्धा घर कर जाती और वह सदा के लिए उनका भक्त बन जाता। उनके चारों ओर शांति, पवित्रता और शीतलता का मंडल घिरा रहता था, जो सबके लिये संक्रामक होता था।

साथ ही उनकी प्रकृति बड़ी विनोदी थी। पद-पद पर वे विनोदभरी बातें

काव्य के अध्ययन के सम्बन्ध में यह परिस्थिति उपस्थित की जिसमें पाठक अपने आपको उस स्थिति में अनुभव करे जिस स्थिति में अनुभव करके रचयिता ने अपनी रचना का निर्माण किया। यह समानुभूति शुक्ल जी की विशेषता है, जिसने उनकी तीव्र अंतर्दृष्टि को वस्तुतः तथ्य-निरूपण में समर्थ बनाया।

'हिन्दी काव्य में रहस्यवाद' में उनकी आलोचनात्मक दृष्टि पूर्ण प्रखरता के साथ प्रकट हुई। प्रखरता ने उसमें समानुभूति को थोड़ी देर के लिए एक ओर ढकेल दिया था, परंतु बहुत समय तक यह बात न रही और आधुनिक काव्य के संबंध में भी वह समानुभूति उनके हिन्दी-साहित्य के इतिहास के नवीन संस्करण में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित दिखाई दे रही है

पर शुक्ल जी सहित्य के समर्थ विश्लेषक और साहित्य-सिद्धांत के शुष्क विवेचक ही नहीं थे, वे स्वयं भी भावुक कवि थे। उनका प्रसिद्ध काव्य 'बुद्ध चरित' उनकी ओर से साहित्य को एक बहुमूल्य देन है। व्रजभाषा के ऊपर यह लांछन लगाया जाता था कि उसमें कोई उच्चकोटि का महाकाव्य नहीं है, जो कुछ बने भी वे सर्वप्रिय न हो सके। शुक्ल जी के इस ग्रंथ ने इस अभाव की पूर्ति की। यद्यपि आर्नल्ड के 'लाइट आँव एशिया' के आधार पर इस काव्य का प्रणयन हुआ है फिर भी आनंद आता है इसमें स्वतंत्र काव्य का सा ही और यह पता नहीं चलता कि विदेशी भाषा में लिखे किसी ग्रंथ की इसमें छाया भी है।

उनकी स्फुट कविताओं की संख्या भी काफी है। उन्होंने अपनी कुछ कविताओं का शीर्षक रखा था 'हृदय के मधुर भार'। ये कविताएँ सचमुच उनके हृदय के मधुर भार को वहन करने वाली हैं और इस प्रकार सच्ची कविताएँ हैं। किंतु, उनमें भी उनका चिंतक स्वरूप छूटा नहीं। उनकी भावुकता भी इनमें दार्शनिकता का आवरण पहन कर आई है। कुछ लोगों के लिए इस आवरण को भेद कर उनकी भावुकता का दर्शन करना कठिन हो जाता है। इसलिए उनकी कविता के वास्तविक मूल्य का अंकन नहीं हो पाता।

स्वयं शुक्ल जी का विचार था कि उनका स्वाभाविक क्षेत्र रचनात्मक साहित्य है। उन्हें बड़ा भावुक हृदय मिला था। रचनात्मक साहित्य को छोड़ कर आलोचना और अध्यापन के क्षेत्र में आने में उन्हें बड़ा त्याग करना पड़ा। सहित्य के अपने गहरे ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाने के उद्देश्य से उन्होंने सृष्टा होने के अमिट आनंद का परित्याग कर दिया। परंतु थोड़ा-सा दुख इस बात का

उनके अंतरतम में बना ही रहा कि दूसरों की ही कृतियों का पर्यालोचन करने को बाध्य होना पड़ता है और अपनी ही सृष्टि करने के लिये अनवच्छिन्न अवकाश नहीं मिलता। यदि यह अवकाश उन्हें मिला होता तो वे साहित्य को अवश्य ऐसा अभिनव दान दे जाते, जो विस्तार और गहराई दोनों में महान होता।

किंतु, इस त्याग से जहाँ हम एक क्षेत्र के दान से वंचित रहे, वहाँ दूसरे क्षेत्र में उसने इस कमी को कहीं अधिक मात्रा में पूरा कर दिया। इससे हमें अत्यंत उत्कृष्ट आलोचनाएँ प्राप्त हुईं और हिन्दी-साहित्य के गहन अध्ययन का विद्यार्थियों में विकास हुआ। इतना ही नहीं उनके स्रष्टा स्वरूप ने उनकी आलोचनाओं को भी केवल अलोचना से ऊपर उठा कर वह रूप दे दिया है जिससे वे स्वयं रचनात्मक स्थायी साहित्य की कोटि में आ गईं। उनकी आलोचनाओं को पढ़ते समय केवल मस्तिष्क ही सक्रिय नहीं होता, हृदय का भी विस्तार होता है: 'गोस्वामी तुलसी दास' में राम-राज्य की व्याख्या पढ़ते हुए हृदय मे अपने आप तरंग मालाएँ उठ आती हैं। और, ऐसे स्थल उनकी रचनाओं मे विरल नहीं हैं।

भाषा के ऊपर शुक्ल जी का बड़ा अधिकार था। उनके सूक्ष्म विचारों ने उसे उन्हें व्यक्त करने में क्षम बनाया। परंतु वे स्वयं भाषा के विद्वान् और अधिकारी लेखक ही नहीं थे, भाषा-शास्त्र के प्रगाढ़ पंडित भी थे। इसका पता उनके बुद्धचरित के आरंभ में दिये हुए निबंध से चलता है, जिसमें उन्होंने ब्रज, अवधी और खड़ी का भेद दिखाया है।

शुक्ल जी का व्यक्तित्व उनकी विद्वत्ता से भी अधिक आकर्षक था। पांडित्य और सौजन्य का उनमें दुर्लभ मणि-कांचन-संयोग था। वे बड़े सरल और निरभिमान थे। पांडित्य का गर्व उनको छू भी न गया था। उनकी मुद्रा पहले दूर से उनके प्रति आदर भाव उत्पन्न करती थी। पहले-पहल देखनेवालों को वे दूर-दूर हटे-से लगते थे। किंतु धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों उनके साथ संपर्क बढ़ता जाता था, त्यों-त्यों व्यक्ति उनको अपने निकट से निकट पाता था। वे जितने ही सरल थे उतन ही तरल भी। उनका हृदय सबके लिए सद्भाव और स्नेह-भरा रहता था। जो उनके संपर्क में आता, उसके हृदय में उनके लिए श्रद्धा घर कर जाती और वह सदा के लिए उनका भक्त बन जाता। उनके चारों ओर शांति, पवित्रता और शीतलता का मंडल घिरा रहता था, जो सबके लिये संक्रामक होता था।

साथ ही उनकी प्रकृति बड़ी विनोदी थी। पद-पद पर वे विनोदभरी बातें

कहते थे। कक्षा में उनके भाषण सुनने में बड़ा आनंद आता था। कभी-कभी तो ऐसी विनोदभरी बात कह जाते थे कि कक्षा की कक्षा खिलखिला उठती थी, किंतु विशेषता यह कि उनकी गंभीर मुद्रा में जरा भी अंतर नहीं आता था। कक्षा में शुक्ल जी को देखकर विद्यार्थी कभी-कभी सोचा करते थे, शुक्ल जी भी कभी हँसते होंगे? किंतु, जब अध्यापन कार्य में मैं उनका सहयोगी हो गया, तब मुझे पता चला कि शुक्ल जी भी कितना जी खोलकर हँसते हैं। उनकी इसी विनोदशीलता के कारण उनके गहन पांडित्य से भरे व्याख्यान भी मनोरम लगते थे।

शुक्ल जी के बहुमुखी पांडित्य की गहराई का पूरा-पूरा अनुमान उनके ग्रंथों से भी नहीं लग सकता। कागज पर सब कुछ आ भी कहाँ पाता है? इसका अनुमान वे ही लगा सकते हैं जिन्होंने स्वयं उनके मुँह से शिक्षा पाई है। इतिहास, दर्शन, मनोविज्ञान, भाषा-शास्त्र तथा संस्कृत, अँगरेजी और बँगला साहित्य के वे अच्छे ज्ञाता थे। हिन्दी के विषय में कहना ही क्या है! उसके साहित्य ने पिछले पचास वर्षों में आभ्यंतर उन्नति की है, लगभग पचास वर्ष पहले हिन्दी-साहित्याकाश ने चन्द्रास्त का अनुभव किया था। आज फिर वही अनुभव उसके प्राणों को रुला रहा है।

डाक्टर हीरालाल

डाक्टर हीरालाल जी के दर्शनों का सौभाग्य मुझे एक ही बार प्राप्त हुआ और वह भी बहुत थोड़ी देर के लिए। परंतु वह अनुभव भूलने का नहीं। दिसंबर १९३० की बात है। 'शब्दसागर' के पूर्ण होने की खुशी में नागरी प्रचारिणी सभा कोपोत्सव मनाने जा रही थी। उसी में सम्मिलित होने के लिए वे आये थे और बा० श्यामसुन्दरदास जी के यहाँ ठहरे हुए थे। वहीं मैंने उनके दर्शन किए थे। उनकी कीर्त्ति मैंने बहुत पहले से सुन रक्खी थी। पुरातत्त्व के क्षेत्र में उनके कार्य का बहुत आदर होता था। वे बहुत ऊँचे सरकारी पद पर भी रह चुके थे। परंतु अहम्मन्यता और रूखापन उनको छू नहीं गया था। वे आदमी के हृदय में बैठ कर उसे अपने पास खींच लेते थे। मुझसे इस पहली ही मुलाकात में उन्होंने वैसा ही व्यवहार किया, जैसा किसी मित्र के साथ किया जाता है। उनके व्यवहार में न बनावट थी, न बेरुखापन। मुझे उनका व्यक्तित्व सरलता, सहृदयता तथा उदारता के संयोग से निर्मित जान पड़ा।

इस थोड़ी सी देर की बात-चीत से मुझे पता लग गया कि उनको युवकों पर भारी भरोसा है। युवकत्व उनके लिए अभिनव उत्साह, उद्दाम साहस और अनवरत अध्यवसाय का प्रतीक था। युवकों में आत्म-विश्वास, उत्साह, साहस और परिश्रम की ओर अभिरुचि भरना भी वे खूब जानते थे। वे स्वयं बड़े परिश्रमी थे; आयु के उस भाग में भी जो सामान्यतया विश्राम के लिए प्रयोजित समझा जाता है, वे परिश्रम करते ही रहते थे, उन लोगों का सा काग़ज़ी-परिश्रम नहीं जो सरकारी पेंशन फटकारते हुए भी सैकड़ों रुपये मासिक बड़े आराम से डकारते रहते हैं। नागरी प्रचारिणी सभा के खोज-विभाग का निरीक्षण-कार्य बहुत परिश्रमसाध्य है। उसे वे कई वर्षों से कर रहे थे। परंतु उस समय उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहता था। आँखें तो बहुत खराब हो गयी थीं। इसलिए वे इस काम से धीरे धीरे अवकाश–ग्रहण करना चाहते थे। मुझे उन्होंने खोज-विभाग में लेने

की इच्छा प्रकट की। पर मुझे अपनी शक्ति पर भरोसा न था। अधिक परिश्रम से भी डरता था। परंतु उनके उत्साह-वर्धक शब्दों में कुछ ऐसी शक्ति थी कि मुझे कुछ काम कर लेना स्वीकार ही करना पड़ा, यद्यपि बहुत जल्द पिंड छुड़ाने की अंदरूनी इच्छा बनी ही हुई थी। इसके बाद उनका साक्षात् फिर कभी नहीं हुआ, किंतु उनकी चिट्ठियों में उनके दर्शन कभी-कभी मिलते रहे।

कुछ समय बाद उन्होंने मुझे दिल्ली-प्रांत में हिन्दी हस्तलिखित ग्रंथों की खोज के संबंध में रिपोर्ट लिखने को लिखा। उसके तैयार हो जाने पर उन्होंने मुझे प्रोत्साहित करने के लिए सभा में उसकी बड़ी तारीफ़ लिख भेजी और मुझे अपना सहकारी बना डाला। यद्यपि मुझे मालूम था कि मेरे एक मित्र ने, जो पहले उनके सहकारी बनाए गए थे, खोज के काम को कूड़ा बताकर खोज-यात्रियों के विवरण पत्रों को वापिस कर दिया था; फिर भी उनकी स्नेहपूर्ण आज्ञा का उल्लंघन करने में मैंने अपने को असमर्थ पाया। मुझे यह भी डर था कि अपने उत्साह-दान को व्यर्थ गया समझकर वे दुखी न हों। समय के अभाव का तो तथ्य के बिना भी जब चाहो तब बहाना दिया जा सकता है, परंतु साधार होने पर भी उनके सामने यह बहाना करने की मेरी हिम्मत न हुई।

उनको सन् १९३३ में नागपुर विश्वविद्यालय ने डाक्टर आफ़ लेटर्स की आनरेरी डिगरी प्रदान की। उसी साल मैंने काशी विश्वविद्यालय की डाक्टर आफ़ लेटर्स की परीक्षा पास की। इस संयोग पर उन्होंने कुछ विनोद के ढंग पर लिखा था —

"It is just in the fitness of things that both the Superintendent and the Asstt. Superintendent of the Search Department should simultaneously become Doctors."‡

मुझपर उनका बड़ा स्नेह था। जबसे उन्होंने सुना था कि मुझे डाक्टरी मिलना निश्चित हो गया है तबसे मुझको डाक्टर लिखने के लिए वे बहुत उत्सुक थे। जैसा बाद को उनके पत्र से मालूम हुआ, हमारे विश्वविद्यालय

‡—अर्थात्, यह उचित ही है कि खोज-विभाग के निरीक्षक और सहायक निरीक्षक दोनों एक साथ ही डाक्टर हो जाँय।

के उस साल के कनवोकेशन का विवरण उन्होंने अखबारों में बड़े चाव से पढ़ा था, परंतु उसमें उसका कोई उल्लेख न पाकर वे विस्मित हुए। कुछ दिन तक वे अखबारों में मुझे डाक्टरी मिलने की खबर ढूंढ़ते रहे, परंतु जब फिर भी कहीं उसका उल्लेख न मिला तो उन्हें शंका हुई और उन्होंने बाबू श्यामसुन्दरदास जी को एक व्यग्रता और उत्कंठापूर्ण पत्र लिखा। शंका दूर हो जाने पर वे बड़े प्रसन्न हुए और एक लंबा बधाई-पत्र लिख भेजा।

मेरे प्रति उनके स्नेह का बंधन मुझे अब भी नागरी प्रचारिणी सभा के खोज-विभाग के साथ बांधे हुए है।

बाबू श्यामसुंदरदास की हिंदी-सेवा

बाबू श्यामसुंदरदासजी का जीवन हिंदी के अपना पूर्ण स्वत्त्व प्राप्त करने के प्रयास की कहानी है। भारतेंदु हरिश्चंद्र के हिंदीप्रेम की बिजली से व्याप्त काशी के वातावरण में उनका बचपन बीता। रामचरित मानस से उनको बाल्यकाल ही में अनुराग हो गया। इंट्रेंस पास करने के बाद वे कालेज के विद्यार्थी ही थे कि उन्होंने कुछ अपने समवयस्क परमोत्साही युवकों के सहयोग से काशी में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की, जो आज हिंदी की सबसे प्रमुख साहित्यिक संस्था है। नागरी लिपि के प्रचार और हिंदी में सत्साहित्य के उत्पादन के लिए नागरी प्रचारिणी सभा एक अपूर्व शक्ति है। परंतु सभा ने जितने उपयोगी कार्य किये हैं उन सबमें बाबू श्यामसुंदरदास का पूर्ण रूप से हाथ रहा है। बाबू साहब को सभा का मस्तिष्क समझना चाहिए। जन-साधारण की दृष्टि में तो बाबू श्यामसुंदरदास नागरी प्रचारिणी सभा हैं और सभा बाबू श्यामसुंदरदास।

जिस आंदोलन के फलस्वरूप पश्चिमोत्तर प्रदेश (अब संयुक्त* प्रांत) की कचहरियों में हिंदी को स्थान मिला उसमें बाबू श्यामसुंदरदास ने अपनी पूर्ण शक्ति के साथ भाग लिया।

उस समय रोमन लिपि के भी बहुत लोग पक्षपाती हो गये थे और नागरी के विरुद्ध उनका बड़े जोरों में प्रचार हो रहा था। बाबू श्यामसुंदरदास इस आंदोलन के विरुद्ध भिड़ गये। इस संबंध में एक बड़ी मनोरंजक घटना हुई थी। रोमन लिपि के पक्षपाती कहा करते थे कि नागरी लिपि शीघ्रता से नहीं लिखी जा सकती। इसी विषय को लेकर फ्रांस के एक प्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ श्री सिल्वेन लेवी से उनकी प्रतियोगिता हो गयी। इसका लेवी महोदय ने एक चिट्ठी में उल्लेख किया है।—"नवंबर या दिसंबर १८९७ में जब आपसे मेरी जान पहचान हुई थी उस सुखद समय को मैं कभी नहीं भूलता—उस समय आप नेपाली खपड़े में न रहते थे? नागरी और रोमन

*—अब उत्तर-प्रदेश —सम्पादक

में हम कितनी शीघ्रता से लिख सकते हैं, यह जाँचने के लिए हमारे बीच में प्रतियोगिता भी हुई थी। आपने उतनी ही शीघ्रता से नागरी लिखी जितनी शीघ्रता से मैंने रोमन।"

हिंदी साहित्य सम्मेलन नागरी-प्रचार का आज सबसे शक्तिशाली केंद्र है। उसके भी जन्मदाता बाबू श्यामसुंदरदास ही हैं। इस प्रकार बाबू श्यामसुंदरदास को हिंदी की संघ-शक्ति का मूर्तरूप समझना चाहिए। परंतु इतने ही म उनकी हिंदीसेवा समाप्त नहीं हो जाती। जितना महत्त्वशाली उनका संगठन और प्रचार कार्य है उतना ही महान् उनका साहित्य-निर्माण-कार्य भी। साहित्य का हलका या गंभीर कोई ऐसा विभाग नहीं जिसे उनकी लेखनी ने संपन्नता न प्रदान की हो।

'सरस्वती' पत्रिका प्रधानतया उन्हीं के संपादकत्व में प्रादुर्भूत हुई और उन्हीं ने दो तीन वर्ष उसे चलाकर यह सिद्ध किया कि ऐसी पत्रिका हिंदी में भी चल सकती है। फिर तो वह यशस्वी संपादक पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी के संपादकत्व में खूब चमकी। नागरी प्रचारिणी पत्रिका ने भी जब से नया रूप धारण किया और वह शोध की पत्रिका बनी, तब से वह बराबर बहुत वर्षों तक कभी कुछ विद्वानों के सहयोग से और कभी अकेले उन्हीं के द्वारा संपादित होती रही। यह उनके अविरत परिश्रम का फल है कि पत्रिका, जगत की दृष्टि में सम्मान के योग्य सिद्ध हुई।

पंजाब के पण्डित राधाकृष्ण ने जब संस्कृत-ग्रंथों की खोज का कार्य आरंभ किया तो हिंदी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज का भी प्रश्न उठा। बाबू श्यामसुंदरदास ने बड़े उत्साह से इस कार्य को अपने हाथ में लिया। युक्तप्रांत की सरकार को उन्होंने उसकी उपयोगिता बतलाई, जिससे उसने सभा को वार्षिक ग्रांट देना स्वीकार किया जो अब २०००) की है। खोज की रिपोर्टों को प्रकाशित करने का भार भी सरकार ने अपने ऊपर ले लिया। लगातार नौ वर्ष तक बाबू श्यामसुंदरदास खोज के निरीक्षक रहे। उनकी खोज-संबंधी रिपोर्टें विद्वत्ता और सूक्ष्मदर्शिता से पूर्ण होती थीं। यहाँ तक कि ग्रियर्सन, पिशेल, थीबो सदृश उच्च कोटि के विदेशी विद्वानों ने उनकी मुक्तकंठ से प्रशंसा की।

नागरी प्रचारिणी ग्रंथमाला में उन्होंने कई प्राचीन काव्य-ग्रंथों का बड़े परिश्रम से संपादन किया जिससे जगत् के समक्ष यह सिद्ध हुआ कि हिंदी का भी ऐसा प्राचीन साहित्य है जिसके आधार पर उच्च शिक्षा दी जा सकती है। पृथ्वीराज रासो का संपादन बड़ी महत्त्वपूर्ण सिद्धि थी जिसकी पूर्ति पंडित

मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या के सहयोग से हुई। इनके अतिरिक्त बाबू साहब ने परमालरासो, कबीरग्रंथावली, चित्रावली आदि महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथों का संपादन किया।

बाबू श्यामसुंदरदास का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता है हिंदी शब्दसागर का संपादन जिसको उन्होंने अपने पांच विद्वान् सहकारियों के सहयोग से बीस वर्ष की सतत साधना के द्वारा प्रस्तुत किया। यह कोश हिंदी के लिए गर्व की वस्तु है जिसको पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने शब्द-कल्पद्रुम, शब्दस्तोम महानिधि और सेंट पिटर्सबर्ग से प्रकाशित बृहत् संस्कृत कोश के समकक्ष बताया है।

परंतु मेरी समझ में इससे भी बढ़कर उनकी महत्ता इसमें है कि उन्होंने यह सिद्धि कर दिया कि केवल हिंदी साहित्य के ही आधार पर ऊँची से ऊँची शिक्षा दी जा सकती है। वे हिंदी के सबसे बड़े आचार्य और अध्यापक हैं। अध्यापक तो वे पहले से भी थे, किंतु मालवीयजी ने हिंदी विभाग का संचालन करने के लिए जब उन्हें काशी विश्वविद्यालय में आमंत्रित किया, तब उन्हें वह काम मिला जो उनके मन के अनुकूल था और जिसके लिए वे पूर्णतया उपयुक्त और सज्जित थे। काशी विश्वविद्यालय की अध्यापकी के द्वारा ही उन्होंने हिंदी को सबसे बड़ा दान दिया। हिंदी के जीवन-तत्त्व, शक्ति और वैभव को उनके रूप में मूर्तिमान् देखकर गौरव की भावना के साथ विद्यार्थी उनसे हिंदी भाषा और साहित्य की शिक्षा ग्रहण करते थे। उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें विद्यार्थियों को दिए हुए व्यख्यानों के ही विकसित रूप हैं। हिंदी साहित्य का कोई ऐसा विभाग नहीं जिसके लिए उनके परिश्रम से दृढ़ नींव न उपस्थित हुई हो। सैद्धांतिक और व्यावहारिक आलोचना, भाषाविज्ञान, भाषा और साहित्य का इतिहास आदि प्रायः सभी क्षेत्रों में वे आदि आचार्य हुए। भाषा और साहित्य, भाषाविज्ञान, भाषारहस्य, साहित्यालोचन, रूपकरहस्य आदि ग्रंथ इस बात के साक्षी हैं।

वे केवल ग्रंथकार और अध्यापक ही नहीं, ग्रंथकारों और अध्यापकों के निर्माता भी हैं। कहीं उन्होंने प्रतिभा की एक चिनगारी देखी कि उसे प्रकाशपुंज में परिणत करने का प्रयत्न किया। हिंदी के कितने ही लेखक और अध्यापक, जो उच्च कोटि के साहित्य का उत्पादन कर रहे हैं और उच्च शिक्षा का दान कर रहे हैं, उनके प्रति कृतज्ञता के भार से दबे हुए हैं।

हिंदी की सेवा में अपने आपको खपाकर वार्धक्य में अब बाबू साहब

काशी में विश्राम ले रहे हैं। काशी विश्वविद्यालय और नागरी प्रचारिणी सभा से उन्होंने अवकाश ग्रहण कर लिया है, फिर भी हिंदी की सेवा उनकी प्रकृति का एक अंग हो गयी है जो उन्हें बराबर हिंदी की हितचिंतना में लगाये रहती है।

भगवान् उन्हें दीर्घायु प्रदान करे जिससे वे बहुत काल तक एक प्रेरणाकेंद्र के रूप में हिंदी हितैषियों के बीच विद्यमान रह सकें।[†]

कालीचरण हाई स्कूल के लिए यह परम सौभाग्य की बात है कि बाबू श्यामसुंदरदास कुछ समय तक उसके प्रधानाध्यापक रहे और उसको सुदृढ़ भित्ति पर रखने का श्रेय उनको भी है। यह भी कम संतोष की बात नहीं कि उनके बाद कालीचरण हाई स्कूल की बागडोर जिनके हाथ में गयी है वे बाबू कालिदास कपूर भी हिंदी के अत्यंत प्रेमी हैं और हिंदी का गौरव बढ़ाने का भरसक प्रयत्न किया करते हैं।

---

†—यह लेख बाबू श्यामसुन्दर दास के जीवन काल में कालीचरण हाईस्कूल, लखनऊ की रजतजयन्ती के अवसर पर लिखा गया था।

—संपादक।

। लाघव उसके सारे प्रभाव को एकमुश्त कर उसे नुकीला बना देता है, वह चुभनेवाली हो जाती है। समझाने के ढङ्ग में बातों का विस्तार होता है, उसमें प्रभाव भी फैलकर निर्बल पड़ जाता है। इसलिए उसमें की बातें बहुधा चिकने घड़े पर पड़ती हैं। बड़ी बड़ी बातों को सुनने-पढ़ने के लिये आदमी सचेत होकर जाता है। यह सचेतनता भी उनके प्रभाव में बाधक होती है। परंतु कहावत अचानक अप्रत्याशित रूप से आती है और अपना काम कर जाती है। व्याख्यान और उपदेशों की रमणीयता तथा उनके प्रभाव को भी कहावत बढ़ा देती है।

उक्ति का एक रमणीय स्वरूप दूसरा भी है जिसे सूक्ति अथवा सुभाषित कहते हैं। लोकोक्ति को समझने के लिए सूक्ति से उसका भेद समझना आवश्यक है। सूक्ति चमत्कार-भरी उक्ति को कहते हैं। सूक्तियाँ अधिकतर पद्य में ढूँढ़ी जाती हैं। इसका कारण यही है कि हमारा प्राचीन साहित्य प्रायः पद्य में ही है। परंतु पद्यमय होना सूक्ति का आवश्यक गुण नहीं है। गद्य में भी सूक्तियाँ हो सकती हैं और होती हैं। सूक्ति में गद्य और पद्य का भेद नहीं मानना चाहिए। सूक्ति का चमत्कार-भरा होना ही काफ़ी है। इससे आगे बढ़कर उसमें लोकानुभव भी हो सकता है, परंतु उसका होना आवश्यक नहीं। जिन सूक्तियों में चमत्कार के साथ साथ लोकानुभव भी रहता है, वे कहावत बन सकती हैं। कवियों तथा लेखकों की कई लोकानुभवमयी सूक्तियाँ कहावत हो जाती हैं। मेघदूत के कई श्लोकों के अंतिम चरण कहावतों की भाँति काम आते हैं। किंतु प्रत्येक सूक्ति कहावत नहीं कही जा सकती।

संक्षेप में, कहावत छोटी, अर्थभरी, चटपटी और सर्व प्रिय होती है। इसी बात को अँगरेजी में अपने चुटीले ढंग से कहते हुए हावेल ने कहा है कि, कहावत की विशेषताएँ हैं 'छोटापन, अर्थ और नमक' ('लाघव, सार्थकता और लावण्य'—'शार्ट्नेस्, सेंस्, ऐंड् साल्ट्')*। इन्हीं गुणों के कारण वह सर्वप्रिय भी होती है।

सालनों में जो काम मसाले का होता है, साहित्य में वही काम कहावत का है। गढ़वाली मुहावरे का प्रयोग करें तो कह सकते हैं कि कहावत बात-चीत तथा साहित्य का 'तुड़का' (तड़का) है जो बहुत थोड़े परिणाम म प्रयुक्त होने पर भी व्यंजनों को विशेष रुचिकर बना देता है।

---

*—'Shortness, sense and salt.'

साहित्य के उत्कर्ष के लिए उसके चटपटेपन को बढ़ानेवाली इस सामग्री के संग्रह का महत्व स्पष्ट है। सुभाषित और कहावत में कुछ अंतर होने पर भी सुभाषित के सम्बन्ध में निम्नलिखित श्लोक में जो कुछ कहा गया है, वह कहावत के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ सत्य है—

खिन्नं चापि सुभाषितेन रमते स्वीयं मनः सर्वदा
श्रुत्वान्यस्य सुभाषितं खलु मनः श्रोतुं पुनर्वाञ्छति ॥
अज्ञाञ्ज्ञानवतोऽप्यनेन हि वशीकर्तुं समर्थो भवेत्
कर्तव्यो हि सुभाषितस्य मनुजैरावश्यकः संग्रहः ॥

गढ़वाली भाषा की कहावतों का संग्रह एक दूसरी दृष्टि से भी आवश्यक है। गढ़वाली अबाध गति से बदल रही है। यदि परिवर्तन की यही द्रुत गति रही तो एक दिन ऐसा आवेगा जब केवल ढांचा भर गढ़वाली रह जायगा और रूप सब तत्सम (संस्कृत) के आ जावेंगे। अतएव गढ़वाली की ही रक्षा की दृष्टि से नहीं, बल्कि भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि गढ़वाली का शुद्ध रूप क्या था, अथवा क्या है, यह जानने का कुछ साधन उपलब्ध हो। यद्यपि भाषा सदा परिवर्तनशील है फिर भी बहुत प्राचीन काल से चली आती होने के कारण कहावतों पर बहुधा पुरानापन भी चिपका चला आता है। श्रीयुक्त पं० शालग्राम वैष्णवजी ने इस प्रकार का एक संग्रह किया है, जिसमें गढ़वाल के जिस भाग में जिस कहावत को उन्होंने सुना है उसे उसी भाग की बोली में बिना हेर-फेर के दे दिया है। इससे गढ़वाली के भेदों को समझने में भी उसके द्वारा कुछ सहायता मिल सकती है।

हिंदी की प्रत्येक विभाषा की सौंदर्य-सामग्री का प्रदर्शन इसलिए भी आवश्यक है कि कदाचित् उसमें से हिंदी को अपनी संपन्नता बढ़ाने के लिए कुछ ग्रहणीय सामग्री मिल जाय। जब हम विदेशी भाषाओं से भी सामग्री ग्रहण करना अच्छा समझते हैं, तब स्वयं हिंदी की विभाषाओं से सामग्री लेने में हिचक ही क्या हो सकती है?

इस प्रकार की सामग्री का संग्रह इस बात को समझने में तो स्पष्ट ही सहायक होता है कि बहुत प्राचीन काल से सारा देश एक कोने से दूसरे कोने तक एक ही संस्कृति से अनुप्राणित रहा है।

कीर्तिलता की भाषा

कीर्तिलता की भाषा के सम्बन्ध में विद्यापति ने कहा है—

सक्कय वाणी बुहअन भावइ। पाउअ रस को मम्म न पावइ॥
देसिल वअना सब जन मिट्ठा। तं तैसन जंपयों अवहट्ठा॥

जिस समय विद्यापति लिख रहे थे उस समय प्राकृत ही क्या अपभ्रंश का जमाना भी बीत चुका था। प्राकृत का तो कोई मर्म पा न सकता था। अवहट्ठ भी वही मीठा लगता था जो देसिल वअना भी हो। प्राकृत की इस ओर की सीमा सातवीं शताब्दी है। सातवीं आठवीं शताब्दी में अपभ्रंश ने जोर पकड़ा। और नवीं शताब्दी में हिंदी की भाषाएँ विकसित हुईं, दसवीं में उनके साहित्य में भी दर्शन होने लगे। विद्यापति के समय तक उनका काफी विकास हो चुका था। स्वयं विद्यापति की पदावली उस समय की हिंदी के मैथिली स्वरूप का मधुर रूप सामने लाती है। विद्यापति की पदावली की भाषा उनके प्रांत की उस समय की देसिल वअना—देश भाषा है, इसमें कोई संदेह नहीं। कीर्तिलता में भी देसिल वअना का ही उपयोग किया गया है परंतु दोनों के देसिल वअना में भेद है। पदावली विद्यापति के भावों का स्वाभाविक उद्‌गार है, इसलिए उसमें भाषा की कृत्रिमता की भी आवश्यकता नहीं। परंतु कीर्तिलता कीर्ति की लता है, एक राजा की कीर्ति के वर्णन में लिखी गई है, वह स्वाभाविक कवि की रचना नहीं है, दरबारी कवि की रचना है। दरबारी कवि भी दरबारी कवायद की उपेक्षा नहीं कर सकता, साहित्यिक कवायद की उपेक्षा कैसे करेगा? काव्य का दरबार के उपयुक्त गांभीर्य प्रदान करने के उद्देश्य से, साहित्यिक भाषा से उसका एकाएक सम्बन्ध विच्छेद न करना कीर्तिलता में आवश्यक समझा गया है। वह देसिल वअना में है सही पर ऐसी देसिल वअना में जिसमें अवहट्ठ का सहारा लिया गया है। जैसा विद्यापति ने ऊपर कहा है।

जिस प्रकार आजकल के साहित्यिक, भाषा को माधुर्य के साथ गांभीर्य

देने के अभिप्राय से हिंदी में संस्कृत पदावली ग्रहण करते हैं उसी प्रकार अप-भ्रंश वाले प्राकृत की तथा देसिल वग्रना वाले अपभ्रंश प्राकृत की शब्दावली ग्रहण करते थे। कीर्तिलता में यह बात बहुत स्पष्ट है। यही कारण है कि आरंभ में बहुत दूर तक और अन्यत्र भी कीर्तिलता प्राकृत का सा ग्रंथ मालूम होता है।

वालचंद विज्जावइ भासा, दुहु नहि लग्गइ दुज्जन हासा।
ओ परमेसर हर सिर सोहइ, ई णिच्चय नाग्रर मन मोहइ॥

इस दृष्टि से प्राकृत, अपभ्रंश, देसिल वग्रना सब कुछ हो सकता है। लग्गइ, सोहइ, मोहइ, से भाषा का निश्चय हो सकता है और उनका इन तीनों में व्यवहार हो सकता है। कुछ पद्य कीर्तिलता में ऐसे भी हैं जो शुद्ध प्राकृत में ह, यथा—

पुरिसत्तणेन पुरिसओ नहि पुरिसओ जम्ममत्तेन
जलदानेन हु जलओ नहु जलओ पुंजिओ धूमो
सो पुरिसओ जस्स मानो सो पुरिसओ जस्स अज्जने सत्ति
इअरो पुरिसाआरो पुच्छविहूना पसू होइ

यह शौरसेनी प्राकृत का शुद्ध नमूना है। परंतु इसके आधार पर हम कीर्ति-लता को प्राकृत का ग्रंथ नहीं कह सकते, क्योंकि यह किसी दूसरे ग्रंथ का अव-तरण मालूम पड़ता है जो जदो (यथा) से स्पष्ट है। अतएव कीर्तिलता की भाषा न शुद्ध प्राकृत है, न शुद्ध अपभ्रंश और न शुद्ध देशी भाषा। उसमें भाषा की स्थिरता नहीं देखी जाती। परंतु इस भाषा की इस अस्थिरता का कारण देसिल वग्रना नहीं है। यह बात ठीक है कि देशी भाषा उस समय व्याकरण के शिकंजे में नहीं जकड़ी गई थी परंतु इसके माने यह नहीं कि देशी भाषा में प्रयोगों की एकरूपता का सर्वथा अभाव रहता है। विद्यापति की पदावली की भाषा व्याकरण के नियमों में जकड़ी न होने पर भी व्यवस्थित है। कीर्तिलता की भाषा की अव्यवस्था उसके खिचड़ी होने का परिणाम है। व्याकरण के सजग ढांचे का सहारा न ह ने के कारण प्राकृत और अपभ्रंश के भार के नीचे उस देशभाषा को दब जाना पड़ा है। उसमें प्राकृत अपभ्रंश के शब्द ही नहीं मिलते, क्रियापदों के रूप तक मिलते हैं।

विद्यापति मिथिला निवासी थे। उनकी पदावली स्वभावतः मैथिली में है। अतएव पहले पहल यह विचार होना भी स्वभाविक ही है कि कीर्तिलता भी मैथिली में होगी। यदि विद्यापति ने कीर्तिलता देसिल वग्रना में लिखी होती तो अवश्य ही उसकी भाषा पदावली की तरह मैथिली होती परन्तु

साहित्यिक भाषा का अधिक आश्रय लेने के कारण ऐसा न हो सका। यद्यपि बौद्ध वैयाकरणों ने मागधी प्राकृत की प्रशंसा करते हुए व्याकरण और पुराण को एक कर दिया है तथापि साहित्य में मागधी को कभी प्राधान्य न मिला। नाटकों में मागधी का प्रयोग कहीं मिलता भी है तो मछुए और धीवरों के मुख में। 'धीवराद्यति नीचेषु मागधी विनियुज्यते' 'और' अन्येचांडाण्लकादीनां मागध्यादि प्रयुज्यते'। आचार्यों की व्यवस्था इस सम्बन्ध में स्पष्ट है। यह केवल इसलिए नहीं कहा जान पड़ता है कि मगध देश बौद्ध धर्मावलंबी हो गया था बल्कि इसमें कुछ तथ्य भी मालूम पड़ता है। मोद्गलायन आदि के 'सा मागधी मूल भासा नरा ययादिकधिका, ब्राह्मणा स्सुतालापा संबुद्धाचापि भासरे' कहने पर भी मूल मागधी के जो छः शब्द बौद्ध परंपराओं से हमें मिले हैं उनका आर्यभाषाओं से कुछ भी सम्बन्ध नहीं जान पड़ता। पाली भी जो बौद्ध मागधी मानी जाती है, उससे संबद्ध नहीं मालूम होती। बौद्ध दंतकथाओं के अनुसार मनुष्य के बाद छः जंतुओं की सृष्टि हुई जिनके मागधी मूल और पाली तथा संस्कृत पर्याय नीचे दिये जाते हैं—

मो सस, शश। सन सुपव सुप्लव। रो कुक्कुटो कुक्कुट। संग अस्य, अश्व। सच सुनक श्वन। यी व्याग्धो व्याघ्र।

जिस मागधी से पाली का जन्म हुआ वह इस भाषा से सर्वथा भिन्न जान पड़ती है। इस मूल मागधी के क्षेत्र में बौद्ध धर्म के प्रचार का साधन लेकर संस्कृत और महाराष्ट्री ने प्रवेश पाकर जब कुछ परिवर्तन सहन किया तब पाली का जन्म हुआ। मागधी का जो रूप नाटकों से हमें प्राप्त होता है वह महाराष्ट्री अथवा शौरसेनी से बहुत अधिक भिन्न नहीं है। अतएव विद्यापति ने अपने जिस साहित्यिक अवहट्ठ का कीर्तिलता में सहारा लिया उसमें शौरसेनी से उद्भूत नागर अपभ्रंश की समानता मिलना अस्वाभाविक नहीं।

'व्रजभाषा' और 'रसकलस'

हमारे सांस्कृतिक जीवन में व्रजभाषा का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण है। उसे उत्तरभारत का सांस्कृतिक माध्यम समझना चाहिए। वह हमारी भक्ति-भावना की विभूति की अनुपम निधि और साहित्य-सुषमा की अभिनव चित्र-शाला है। सूरदास और भक्त कवियों ने अपने उद्गारों की अमृत-वर्षा से इस मधु-मधुर वाणी को सिंचित किया और बिहारी आदि कलाकारों ने अपने जगमगाते रत्नों से अलंकृत। वैष्णव आन्दोलन की कृपा से मध्ययुग में ही वह व्रजभूमि की सीमा को लांघ कर भारत-व्यापिनी हो गई थी। सहृदय भक्त मात्र, बिना किसी प्रान्तभेद के, तब तक अपनी वाणी की सार्थकता नहीं मानते थे, जब तक कृष्ण की जन्मभूमि की भाषा में ही भगवान् के सम्मुख आत्मनिवेदन न कर लेते थे। नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, नरसीमेहता, चंडीदास आदि सब मराठी, गुजराती, बंगाली वैष्णव संतों ने व्रजभाषा में अपने हृदय के उद्गारों को प्रकट किया है। बंगाली भक्त समुदाय ने तो अपनी अलग ही "व्रजबूली" बना डाली जो कृत्रिम होने पर भी व्रजभाषा के अखिल भारतीय महत्व को भलीभांति प्रकट करती है।

साहित्य के क्षेत्र में ही नहीं संगीत और कला के क्षेत्र में भी बहुत काल से व्रजभाषा का ही प्राधान्य रहा है। संगीत की जितनी पक्की चीजें होंगी प्रायः सब व्रजभाषा की मिलेंगी। कला का आदर्श भी बहुत काल तक व्रज-भाषा काव्य ही के अनुरूप निर्मित होता रहा। जो शृंगार रसान्तर्गत नायिका भेद की बारीकियों को नहीं जानता वह मध्ययुग की हिन्दू चित्रकारी को भी नहीं समझ सकता। अतएव साहित्य, संगीत और कला जो संस्कृत जीवन के आवश्यक उपादान हैं, व्रजभाषा से घनिष्ट सम्बन्ध रखते हैं। उनसे अभिज्ञता प्राप्त करने के लिए व्रजभाषा का ज्ञान आवश्यक है। उससे सर्वथा सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने से 'साक्षात्पशुः पुच्छ विषाण हीनः' हो जाने की आशंका का आ उपस्थित होना संभव है।

आज यही आशंका हमारे सम्मुख उपस्थित है। खड़ी बोली की बाढ़ के

कारण ब्रजभाषा का साहित्यिक क्षेत्र में टिका रहना कठिन हो रहा है। ब्रजभाषा के प्राधान्य पर पहला आघात 'रामचरितमानस' के सहारे अवधी ने किया था। 'रामचरितमानस' का जो प्रचार हुआ, वह कृष्ण-सम्बन्धी किसी भी ब्रजभाषा ग्रंथ के भाग्य में न बदा था। साहित्य का वह मुकुट-मणि माना गया। ब्रजभाषा में एक सुन्दर प्रबन्ध काव्य के अभाव का उसने खटकनेवाला दर्शन कराया, जिसकी पूर्ति का प्रयत्न आज तक होता चला आ रहा है। परन्तु इतना होने पर भी ब्रजभाषा के प्राधान्य में कोई कमी न आई। रामचरितमानस के अतिरिक्त अवधी के अन्य प्रबन्ध काव्य—अवधी में प्रबन्ध काव्यों की कमी नहीं है—वेठनों में बँधे रह] गये। उनमें से अच्छे से अच्छे के प्रचार के लिए उसी सामर्थ्य की आवश्यकता पड़ रही है जो ब्रजभाषा में उनके अभाव की पूर्ति करने में सफल हो सकी है।

परन्तु खड़ी बोली और अवधी की एक ही बात नहीं। अवधी केवल एक प्रांतिक भाषा थी। रामभक्ति का साहचर्य भी उसे वह स्थान न दिला सका जिससे वह ब्रजभाषा के साथ कुछ भी सफल स्पर्धा कर सकती। परन्तु मध्ययुग ही से राजनीतिक परिस्थितियां खड़ी बोली के प्रचार में लगी हुई हैं। उसने देश के विभिन्न प्रांतों में शांत किन्तु अबाध प्रवेश पा लिया। साहित्य में प्रवेश करने के पहिले ही वह हिन्दी भाषियों ही की नहीं एक प्रकार से समस्त भारत की आदान-प्रदान की सामान्य भाषा हो गई थी यद्यपि प्रकट रूप से इस बात की अनुभूति किसी को न हुई। आज हिन्दी का राष्ट्र-भाषा के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किया जाना इसी अप्रकट तथ्य की प्रकट स्वीकृति है। साहित्यिक क्षेत्र में भी इसी कारण उसने ब्रजभाषा को प्रमुख स्थान से आसानी से च्युत कर दिया है। आज ब्रजभाषा नहीं, खड़ी बोली हिंदी का साहित्यिक माध्यम है। और कोई भी ब्रजभाषा प्रेमी इस बात से दुखी न होगा और न इस बात का प्रयत्न करेगा कि खड़ी बोली को च्युत कर ब्रज-भाषा को फिर से प्राधान्य दिया जाय। उस स्थान को प्राप्त कर सकने की आशा ब्रजभाषा को स्वप्न में नहीं हो सकती। इस समय आशंका इस बात की नहीं है कि ब्रजभाषा खड़ी बोली पर आघात कर सकेगी बल्कि इसकी कि अपने अधिकार के मद में खड़ी बोली ब्रजभाषा को जीवित साहित्य के क्षेत्र से सर्वथा ढकेल बाहर न कर दे, यद्यपि जीवित भाषा तो वह तब तक बनी रहेगी जब तक ब्रजभूमि में ब्रजभाषी निवास करेंगे। यदि खड़ी बोली के क्षेत्र को इस बात की आकांक्षा हो कि ब्रजभाषा अथवा हिंदी की अन्य किसी उपभाषा में भी साहित्य का निर्माण ही न हो—तो इससे बढ़कर दुर्भाग्य

की बात ही क्या हो सकती है ? वैसे भी समय की आवश्यकता यह है कि हिंदी की समस्त उपभाषाएँ अपने पूर्ण सौंदर्य और सामर्थ्य का प्रदर्शन करें जिससे खड़ी बोली उनसे अपने सौंदर्य और सामर्थ्य की वृद्धि के लिए सामग्रो-चयन कर सके. अंगरेजी आदि विदेशी भाषाओं से भी इस प्रकार के सामग्रो-चयन का विरोध नहीं किया जाना चाहिए परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हिंदी ही की उपभाषाओं से खड़ी बोली जो कुछ ग्रहण करेगी वह उसके लिए अधिक स्वभावानुकूल और सौंदर्यवृद्धिकर होगा और फिर ब्रज में तो साहित्य, संगीत और कला तीनों का समृद्ध संयोग है। इसीसे कहना पड़ता है कि बड़े-बड़े शक्तिशाली विद्वानों का अपने को ब्रजभाषा-विरोधी कहना ब्रजभाषा के लिए ही नहीं, खड़ी बोली और खड़ी बोली बोलनेवालों के लिए भी आने-वाली एक अहितकर परिस्थिति की ओर संकेत करता है।

खड़ी बोली नये आदर्शों को सामने रख नये विषयों पर नये ढंग के साहित्य का निर्माण कर रही है। यह अतीत के गाने गाते हुए भी साहित्यिक निकट अतीत से बिलकुल सम्बन्ध-विच्छेद कर देना चाहती है। आधुनिक काव्य की दुर्बोधता का यही एकमात्र कारण है। उसमें भाव और शैली दोनों सौंदर्यमयी हैं, परन्तु वही उसका रस-पान कर सकते हैं, जो अंगरेजी आदि के साहित्यामृत का स्वाद चख चुके हैं। परन्तु जिनमें केवल अपनापन है, उनके लिए यह निरर्थक रोना-धोना मात्र है और इसीलिए चिढ़ानेवाला भी। आधु-निक हिंदी के प्रधान विधायक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी यह नहीं चाहते थे कि साहित्यिक वर्तमान का साहित्यिक अतीत से इस प्रकार सहसा सम्बन्ध विच्छेद हो जाय। इसीलिए उन्होंने खड़ी बोली के गद्य के गहने में ब्रजभाषा के पद्य से मीने का काम लिया है। खड़ी बोली के आदि कवि पं० श्रीधर पाठक ने भी सजीव ब्रजभाषा में काव्य रचा है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने, जिनमें समर्थ समालोचक और भावुक कवि का अलभ्य समन्वय हुआ है, बुद्ध-चरित की रचना-द्वारा ब्रजभाषा के एक अभाव की पूर्ति की है और ब्रजभाषा के भव्य तथा संग्राहक स्वरूप का दर्शन कराया है।

परन्तु ब्रजभाषा का साहित्य भी अगर प्राचीन परंपराओं से ही बँधा रहा तो जीवित होते हुए भी वह मृतक ही रहेगा। समय-समय की अलग-अलग भावनाएँ होती हैं जो जाति के जीवन को आकृष्ट तथा उद्वेलित करती हैं। इस-लिए वर्तमान को भूलकर केवल अतीत का सपना देखना रुचिकर नहीं हो सकता। परंपराओं से एकाएक सम्बन्ध-विच्छेद कर देना तो कल्याणकर नहीं ही होता। हमारे लिए कल्याण का मार्ग है अतीत के अनुरूप वर्तमान

समाहार शक्ति, घनानन्द की स्वाभाविकता, मतिराम का लालित्य, रहीम का बांकपन और रसखान की भाव-प्रवणता सब एक साथ विद्यमान हैं। परन्तु इन सबके ऊपर उनकी अपनी हरिऔधी छाप है। छलकता हुआ यह 'रसकलस' हमारे साहित्यिक मंगल का सूचक है; साहित्य-मन्दिर के शिखर पर स्थान पाने योग्य है।

तारा पांडेय

बहन तारा से मेरा साक्षात् परिचय नहीं है, उसे मैंने देखा भी नहीं है। किन्तु, उसकी कविता में मैंने उसके दर्शन किये हैं उससे वह अपरिचित नहीं लगती, उसके अस्तित्व का कण-कण, उसके जीवन का पल-पल, उसके हृदय का स्थल-स्थल, उसमें से साफ झलकता है। और सदा का जाना पहचाना सा लगता है। उसकी सरलता, उसकी उज्ज्वलता, उसकी लघुता, हलकापन उसे वह महनीयता प्रदान करता है जिससे वह सबके उर का दुलार बरबस ले लेती है, सबको बरबस अपने पास खींच लेती है। निर्णय का कोई प्रश्न उसके सामने नहीं ठहरता, आलोचना-बुद्धि सो जाती है।

जैसे स्वयं तारा ने कहा है—

सब के ही जीवन में सुख दुख एक एक कर आता।
जीवन की छोटी धारा को अपने साथ बहाता।

किन्तु तारा के जीवन में सुख-दुख का एकत्व है, वे बारी-बारी से नहीं आते। उसके जीवन का साथी दुख ही उसका सुख भी है। जगती में उसने केवल

व्याकुलता के पथ पर अपनी।
आशा अभिलाषा खोना।

सीखा है। उसके व्यथामय पार्थिव जीवन ने उसके भावनामय अभिव्यंजना-सुख का जन्म दिया है। अपना दुखड़ा रोने में ही उसे चैन मिलता है—

किससे कहूँ कौन सुन लेगा।
इस जीवन की करुण कथा?

वह अश्रुमयी सारे विश्व को अपने अश्रुओं से परिपूर्ण देखती है। सर्वत्र उसे अपने ही दुःख की परिछाईं दिखाई देती है।

मेरे रोने से ही सूखे पत्तों ने रोना सीखा।
मेरे आँसू देख ओस ने फूलों को धोना सीखा।
मेरी साँसों से समीर ने निःश्वासें भरना सीखा।

फूलों के दल पर मोती की तरह चमकती हुई ओस-कणों में और रात्रि में गगनांगन को प्रकाशित करनेवाले तारकों में उसे अपने ही आंसू दिखाई देते हैं।

ओस बिंदु मिस जन्म बहाकर ।
थक जाते हैं अश्रु नयन ।
× × ×

ऐ नभ था आश्चर्य मुझे भी सचमुच ।
अश्रु कहां को हैं जाते ?
जान गई हूँ अब तो आहा
तुम्ही इन्हें हो ले जाते।

उसके लिए तारे शायद इस आशंका से कांपते हैं कि कहीं मेरे आंसू आकाश पर थोड़ा सा भी अधिकार प्राप्त कर उनकी इतिश्री न कर दें।

कांपा करते या इस भय से
अपने मन में हे सुकुमार।
कर लें कहीं न नभ पर किंचित
ये आँसू अपना अधधिकार

नीहार में उसे व्यथित के हृदय का प्रतिरूप दिखाई देता है।

किस दुखिया की व्यथित आह तुम ।
किस की सुधि से हो छाये ।
अपनी धुँधली सी चादर प्रिय ।
किसे उढ़ाने हो आये ?
हा क्या मेरे व्यथित हृदय में
सखे तुम्हीं करते हो वास ?

यह बात नहीं कि वह सुख का अनुभव नहीं कर सकती अथवा सर्वज सुलभ सुख की आशंका ही उसके हृदय में नहीं अथवा सुखकर वस्तुयें उ भातीं ही नहीं। सुख के अभाव ही ने तो उसकी आंखों में अविरल अश्रुअं को बसाया है। उसको इस बात का खेद है कि

खिलने से पहले ही हा,
मुरझाई हैं ये कलियां।
आशा के नव-नव पल्लव ।।
अनुराग भरी वल्लरियां।
सुख स्वप्नों की चंचलता ।।
सूनेपन में पथराई ।।

यौवन की वह मादकता।
आँखों में ही अलसायी॥

सुखकर वस्तुयें अब भी उसे सुन्दर लगती हैं। परन्तु साथ ही वे हृदयस्थ सुखाभाव की बड़ी गहरी चेतना दे जाती हैं। तारादेवी का ज्योत्स्ना-वर्णन बड़ा भव्य है। उसकी एक-एक पंक्ति ज्योत्स्ना ही की भाँति दुग्धोज्ज्वल एक-एक अक्षर हँसता हुआ सा है। किन्तु आह! अंत में अपने हृदय का रुदन उसे उस हँसी में भी दिखायी देने लगता है। और उसके हृदय का विषाद ज्योत्स्ना से उज्ज्वलता का भिखारी हो जाता है।

धो धो कर कौन सजाता
खाली कलियों की प्याली
अवनीतल पर बिखरी है
किसकी निर्मल उजियाली?

फैली है सित किस सुख से
यह रजत किरण वसुधा में
कलियों की प्याली धोती
सुन्दर मधुमयी सुधा में॥

शुचि भव्य भवन ही होवे
या पर्णकुटी का प्रांगण।
सब में समता से हँस हँस
भरती है नव नवजीवन॥

चुपके से कुसुम दलों का
करती है मधुमय चुम्बन
निशि के काले केशों को
सुलझाती है प्रेयसि बन

हँसने में रुदन निरख लो
फूलों के तुहिन कणों से
मेरे उर को भी भर दो
वाले, उज्ज्वल किरणों से

उसने भी कभी अमिश्रित सुख देखा था, आनन्द की हिलोरों में बही थी। अपने शैशव की भोली पवित्रता और यौवनारम्भ की मुग्ध मधुरिमा की उसे अब भी रह-रहकर याद हो आती है।

ऊपा के अंचल में मेरी
वालापन की मृदु मुसकान।
फूलों की पलकों में हँसता
यौवन का पहला आह्वान॥

परन्तु उसके ये सुख मानो विधाता से देखे न गये। स्वप्न के समान क्षणिक निकले। उसने माता का लाड़ न पाया, जीभर प्राणेश्वर की सेवा नहीं कर सकती। शैशव में ही वह मातृहीना हो गयी और यौवनारम्भ में ही रोगिणी। माता के लिए वह विकल हो जाती है। किसी के मुँह से माँ संबोधन सुन लेती है तो वह अब भी बच्ची बन जाती है और—

प्यारी माता कहने को हा
मेरा भी जी ललचाता।
माता होती तो क्या होता।
यह इच्छा बस रहती है।

अपने हृदयेश्वर के जीवन में वह नैराश्य के अतिरिक्त कुछ न ला सकी इसकी उसके हृदय में कितनी गहरी चोट है। इसका दुखिया अथवा उसके सर्वस्व के सिवाय और कौन उचित अनुभव कर सकता है। जो लाई सो जानि है कै जिहि लागी होइ।

निराशा की वीणा में देव
वेदना के गूँथे हैं तार।
छोड़ कर गहरे से निःश्वास।
छेड़ दूँगी अस्फुट झंकार॥
विकल होना मत सुनकर देव
छीन लेना मत अपना प्यार।
निरख कर मेरा सूनापन।
गिरा देना आँसू दो चार।

उसकी गहरी वेदना का ठिकाना नहीं। कष्ट से तड़फड़ाकर करुणा वरुणालय से पूछती है—

टूटा पंख था अभी और है।
मुझे बताओ हे करुणेश।
[illegible] बताना [illegible] अब
कितना शेष रहा है क्लेश।

तारा की शिकायत है कि यह संसार स्वार्थी है सुख में सब साथ देते हैं किन्तु दुख में किनारा खींच लेते हैं।

कभी यदि हँसती हूँ जग में
सभी हँसते ऊँचा कर साथ
किन्तु रोने में तो
नहीं देता है कोई साथ ॥

अपार कष्ट की वेदना से विह्वल होकर उसका सुकुमार हृदय अपने प्राणेश को भी उलहना देने को बाध्य हो जाता है।

इस कंटकमय जगती में होता क्या कोई अपना ?
यह भेद बताते जाना।
तुम एक-बार तो आना ॥

यद्यपि लोक में भी यही प्रसिद्ध है क सब सुख ही के साथी होते हैं दुख के कोई नहीं, फिर भी बात कुछ इससे उलटी ही जान पड़ती है। वस्तुतः दुख ही एक ऐसी स्थिति है जो प्राणी-प्राणी को समानुभूति के क्षेत्र में पहुँचाकर प्रेम के सूत्र में बाँध देती है। किसी के सुख में सम्मिलित होने के लिए चाहे हम व्यक्तिगत निमंत्रण की अपेक्षा रखें परंतु किसी के भी दुख के निवारण में योग देने के लिये परमात्मा की ओर से हमारे लिए सनातन निमंत्रण है जो अमिट अक्षरों में हमारे हृदय पर लिखा हुआ है। इस निमंत्रण की अवहेलना नहीं की जा सकती। जो और कुछ करने में असमर्थ हैं, दो आंसू दूसरे के दुख पर सच्ची वेदना के साथ उनके भी गिर जाते हैं। भेद केवल इतना ही है कि कभी-कभी अपने दुख में प्राणी इतना निमग्न हो जाता है कि वह यह भी नहीं देख पाता कि उसकी आंख के आँसुओं को पोछने के लिए कितनी आँखें उमड़ी आ रही हैं। करुणा की इसी प्लावन-कारिता ने भवभूति को 'एको रसः करुणएव' कहकर करुणा रस की प्रधानता उद्घोषित करने को बाध्य किया था।

तारा ने भी साहित्य के नीले थाल को अपनी आँखों से झड़नेवाले नक्षत्रों से सजाया है। अपने हृदय की सच्ची वेदनाओं को उसने सीधे-सादे छंदों में बटोरा है। उसका काव्य स्वच्छ, सरल और उज्ज्वल है। उसके भीतर की सरलता भाषा की सरलता में व्यक्त हुई है। उसके भावों और उनकी पुनरानुभूति के बीच भाषा कोई रुकावट नहीं डालती। इसीसे उसकी कविता उतनी ही प्रसन्न है जितनी विषादपूर्ण। उसकी अपनी अनुभूतियां हैं। मैंने

सुना है तारा को किसी सरनेवाली भयंकर बीमारी का संदेह हो गया है। उसके शरीर का रोग सरनेवाला हो न हो, पर इसमें संदेह नहीं कि उसके हृदय की ऽकी कविता लगनेवाली बीमारी है।

> किससे कहूँ कौन सुन लेगा इस जीवन की करुण कथा।
> बस डरती हूँ कहीं न लग जाये यह बीमारी मेरी॥

निस्संदेह तारा भाव-लोक की ज्योतिष्मती विभूति है।

'ज्ञ' का हिन्दी उच्चारण

'कर्मभूमि' के सम्पादक-द्वय के आग्रह से मैंने पं० चेतराम शर्मा के 'नूतन हिंदी व्याकरण का परिचय' लिखा था, जो उसके ता० १२-६-३६ के अंक में छपा था। दोष-दर्शन-बुद्धि से मैंने उसे नहीं लिखा था। ग्रंथ मुझे बहुत अच्छा लगा। फिर भी उक्त व्याकरण में लिखी हुई एक बात मेरी दीठ में ऐसी पड़ गई जो तथ्य के विरुद्ध थी। उसका निराकरण न करना उससे सहमत होना समझा जाता। शर्मा जी ने उसमें बड़ा जोर देकर लिखा है कि 'ज्ञ' का उच्चारण 'ग्यं' नहीं 'ज्ञ' होना चाहिये। मैंने 'परिचय' में बतलाया कि इसमें संदेह नहीं कि मूलतः अर्थात् संस्कृत में 'ज्ञ' का उच्चारण 'ज्ञ' था, पर आज भी यद्यपि संस्कृत के बहुत से धुरन्धर उसका उच्चारण 'ज्ञ' ही करने का प्रयत्न करते हैं, फिर भी हिंदी में उसका उच्चारण 'ज्ञ' न होकर ग्यं ही है। इसका शर्मा जी ने 'कमभूमि' के ३३ वें और ३४ वें अंक में बड़ा तीव्र खंडन किया है और यह आशय प्रकट किया है कि हिंदी में भी 'ज्ञ' का उच्चारण 'ज्ञ' ही है ग्यं नहीं।

अपने पक्ष के समर्थन में शर्मा जी ने बहुत-कुछ लिखा है, जो देखने म तर्क-सा जान पड़ सकता है, किंतु जिससे उनका पक्ष-समर्थन नहीं होता और जो वस्तुतः तर्क नहीं है। उदाहरण के लिए इंग्लैंड के किसी बड़े पुस्तकालय के अध्यक्ष ने यदि डा० बेनीप्रसाद के नाम के स्थान पर वेणीप्रसाद लिख दिया—कहानी सच है या झूठ मैं नहीं जानता—तो न इससे बेनीप्रसाद ही अशुद्ध सिद्ध हो गया और न 'ज्ञ' का हिंदी उच्चारण ही 'ज्ञ' हो गया। उक्त पुस्तकाध्यक्ष का बेनीप्रसाद के स्थान पर वेणीप्रसाद लिखना हमारी प्रसन्नता का कारण भी नहीं हो सकता। अंग्रेजी भाषा का भी कोई प्राचीन उद्गम है, किन्तु उक्त पुस्तकाध्यक्ष को अंग्रेजी नामों को इस प्रकार संशोधित करने का ध्यान भी न आया होगा। पर अंग्रेजों के और हिंदुस्तानियों के नामों की एक ही बात नहीं। गुलामों के नामों को जो चाहे संशोधित कर दे सकता है और सात समुद्रों के इस पार शर्मा जी उस पर खुशियाँ मनाते हैं! अब शर्मा जी की भी पुस्तक

जब उक्त बड़े पुस्तकालय में पहुँचेगी तब उसकी सूची में चेतराम के स्थान पर चैत्रराम या चेतोराम (चेतस्+राम) देखकर शर्मा जी न जाने कितने प्रसन्न होंगे ! क्या उस समय भी वे अपने मन से कह सकेंगे या नहीं— 'चेतो राम ! ' ?

शर्मा जी का कथन है–'व्याकरण सूत्रकार महा मुनिवर पाणिनि कोरे वैयाकरण नहीं थे, व न्न वहुश्रुत थे, संक्षिप्त कथन के एक ही पंडित थे।' ठीक है, थे। किंतु क्या अब इन गुणों की आवश्यकता नहीं रह गई है ? क्यों आज का वैयाकरण उन्हीं बातों से चौंकता है, जिनको इन्हीं गुणों की प्रेरणा से महा मुनिवर पाणिनि ने अपनाया है ? विश्वामित्र शब्द का उदाहरण स्वयं शर्मा जी ने दिया है , किंतु उसके पाठ से कुछ भी लाभ उन्होंने नहीं उठाया। उन्हें देखना चाहिये कि पाणिनि ने यह नहीं सोचा कि मैं तो 'अकःसवर्णे दीर्घ, लिख चुका हूँ; अगर 'विश्वामित्र' विश्व का शत्रु (अमित्र) नहीं होना चाहता तो अपना नाम बदल कर 'विश्वमित्र' रखे। आजकल का सा कोरा वैयाकरण ठीक यही करता और उसकी प्रशंसा का पात्र कोई पुस्तकाध्यक्ष यदि उस समय होता तो वह कहता विश्वामित्र तुम नहीं बदलते, तो मैं ही तुम्हारा नाम संशोधित करके 'विश्वमित्र' कर दूँ।' परन्तु पाणिनि ने जब देखा कि विश्वामित्र भी किसी भले आदमी का नाम है और उससे अभिप्राय विश्व के अमित्र का न हो कर मित्र का ही है तो यद्यपि अपनी अष्टाध्यायी में एक-एक अर्ध मात्रा के कम होने पर उन्हें एक - एक पुत्रोत्पत्ति का हर्ष होता था, फिर भी उन्होंने विश्वामित्र को इस अर्थ में सिद्ध करने के लिए नये सूत्र की रचना की—'मित्रे चर्षौ।' आजकल के कोरे वैयाकरण की तरह उन्होंने कठ—हुज्जती नहीं दिखाई कि विश्वामित्र के माने विश्व का मित्र हो ही नहीं सकता। जो उसका यह अर्थ करते हैं वे मूर्ख हैं, अशिक्षित हैं। उनकी बहुज्ञता बहुश्रुतता ने उन्हें रटन्त के आगे बढ़ा-कर वैज्ञानिक बनाया, जो सदा तथ्यों के लिये सावधानी से आखें खोले रखता है, कोरा अंधा वैयाकरण नहीं। पाणिनि, पतंजलि, कात्यायन, वररुचि और हेमचन्द्र की वैज्ञानिकता का ही परिणाम है कि उन्होंने भाषा विकास की अवस्थाओं को देखा और उनका लेखा किया। उनके समय में कट्टरपंथियों की चलती तो हम आज भी संस्कृत या कोई अन्य भाषा बोलते होते और शर्मा जी के नूतन हिंदी-व्याकरण के लिखे जाने की नौवत तक न आती।

ज्ञान-विज्ञान लकीर की फकीरी के आसरे नहीं चलते। आंखें खुली रखकर सतत उपासना और मनन से वह समय आता है जब विद्या साधक को स्वयं

अपनी ओर से दान देने लगती है। वैयाकरण के लिए जब वह अवस्था प्रस्तुत होती है तब उसका यह गर्व दूर हो जाता है कि मैं नियामक हूँ और वह स्वयं नियमन करने के बदले तथ्यों पर आश्रित नियमों को खोजने के विनीत काम पर लग जाता है। तब फिर वह यह नहीं सोचता कि 'अनुचित परम्परा और अशिक्षित जनता ही सब कुछ नहीं। व्याकरण इनका दास नहीं है।' भाषा के क्षेत्र में उसके लिए दृढ़ परम्परा सब कुछ हो जाती है। उसके साथ औचित्या-नौचित्य के भाव को वह जी में नहीं लाता। क्या होना चाहिए, वह यह नहीं सोचता; क्या होता है, वह यह सोचता है। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भाषा का वास्तविक स्वरूप कृत्रिम व्याकरणों में नहीं, भाषा के जन-समूह में चलते हुए स्वाभाविक प्रवाह में है। भाषा जनता के व्यवहार में बनती या विकास पाती है। अपनी रचना को सजीव रखनेवाले रचयिता, जनता की अकृत्रिम भाषा से सदैव संजीवनी शक्ति खींचते हैं और वहीं वैयाकरण नव-प्रतिष्ठित प्रयोगों का अन्वेषण करते हैं। जिन वैयाकरणों का नाम हम आज भी आदर के साथ लेते हैं, उन्होंने यही किया, कुछ ऐसे भी रहे होंगे जो इसके विरुद्ध चले होंगे ; उनका अब नाम भी नहीं लिया जाता !

ज्ञ का उच्चारण हिंदी में 'ज्ञ' होता है या 'ग्यं' इसका निर्णय तथ्य का प्रश्न है। वास्तविक तथ्य के सामने चाहे सैकड़ों सूत्र खड़े कर दिये जायें, वे उसको गिरा नहीं सकते। तथ्य सूत्रों के अनुसार नहीं चलते, सूत्र तथ्यों के अनुसार चलते हैं और ज्यों ही नये तथ्य अस्तित्व में आते हैं, पुराने सूत्र नये सूत्रों के लिए स्थान छोड़ते जाते हैं। (यदि कोई आजकल सूत्रों का बनना असम्भव समझता हो तो, उपर्युक्त वाक्य में 'सूत्र' के स्थान पर 'नियम' पढ़ें।) पं० चेतराम शर्मा के अनुसार यह कथन कि 'ज्ञ' का हिंदी उच्चारण 'ग्यं' है 'न सत्य है', न वैज्ञानिक।' परन्तु किसी तथ्य के सामने आँख मूँद लेने से तो उसका अस्तित्व मिट नहीं जाता। जान पड़ता है कि शर्मा जी किसी बहुत ही सीमित मंडल में घिरे बैठे रहते हैं, जहाँ 'ज्ञ' का 'ज्ञ' उच्चारण करने का ही प्रयत्न किया जाता है और सर्वत्र प्रचलित 'ग्यं' कानों में नहीं पड़ने दिया जाता ; या तथ्य को जानने पर भी कट्टरपंथी होने के कारण वे कठहुज्जती को पकड़े हुए हैं। कठहुज्जती की तो कोई दवा नहीं है, परन्तु यदि उनको विस्तृत जन-समाज में जाने का अवसर अब तक नहीं मिला तो वे अब जावें और वस्तु-स्थिति को देखें। ऐसा करने से उन्हें पता चलेगा कि हिंदी-भाषी प्रदेश में सर्वत्र 'ज्ञ' का 'ग्यं' या 'ग्य' ही उच्चारण होता है। शर्मा जी का कथन है कि "अब भी सैकड़ों हिंदी-भाषी 'ज्ञ' का 'ज्ञ' ही उच्चारण करते हैं।" लाखों करोड़ों के सामने सैकड़ों की क्या गिनती ?

फिर ये 'ज्ञ' का 'ज्ञ' उच्चारण करने का प्रयत्न करनेवाले सैकड़ों अपनी हिंदी-भाषिता के कारण 'ज्ञ' का 'ज्ञ' उच्चारण करने का प्रयत्न नहीं करते, बल्कि अपने संस्कृत-ज्ञान के कारण। और साथ ही यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सब संस्कृतज्ञ भी 'ज्ञ' का 'ज्ञ' उच्चारण करने का प्रयत्न नहीं करते; बहुत उसे 'ग्य' या 'ग्यं' ही पढ़ते हैं।

इस प्रश्न के निर्णय में साहित्य से भी पूरी सहायता मिल सकती है। गोसाईं तुलसीदास जी हिंदी के सबसे श्रेष्ठ कवि हैं। उनकी महत्ता स्वीकार करने में किसी को आनाकानी नहीं हो सकती। हमारी संस्कृति के उद्धार का अपनी रचना के द्वारा उन्होंने बड़ा शक्तिशाली प्रयत्न किया है। उनसे किसी ऐसे काम के हुए होने की संभावना नहीं जो सांस्कृतिक दृष्टि से च्युत हो। उन्होंने ज्ञ का हिंदी उच्चारण ग्य ही माना है जैसा उनके रामचरित मानस से प्रकट होता है। रामचरित मानस के बहुत प्राचीन हस्तलेख प्राप्त हैं जिनमें से सबसे प्राचीन सं० १६६१ की श्रावणकुंज की बालकांड की प्रति है, जिसकी प्रतिलिपि गोसाईं जी के जीवनकाल ही में हो गई थी। दूसरी राजापुर की अयोध्याकांड

इन विभिन्न योग्यता के व्यक्तियों के पास भिन्न-भिन्न सामग्री होने पर भी सबका उद्देश्य एक ही था 'शुद्धपाठ' को उपलब्ध करना। गोस्वामीजी की अपनी लेख-प्रणाली जैसी थी अथवा प्रामाणिक पोथियों में जैसी प्रणाली देखने में आई है' वैसी जिसमें हो; ऐसा संस्करण गौड़ जी का आदर्श था। मानसांक के सम्पादकों का 'निवेदन' है — ग्रंथ कवि के प्रतिज्ञानुसार, प्राकृत अथवा 'भाषा' में लिखे जाने के कारण उसके प्रयोग भी 'भाषा' के ही अनुकूल होने चाहिए। प्राकृत में 'ऋ' के स्थान में 'रि' 'ण' के स्थान में 'न', 'श' के स्थान में 'स', 'क्ष' के स्थान में छ, च्छ, क्ख, अथवा ष और 'ज्ञ' के स्थान में ग्य का प्रयोग होता है। प्राचीन प्रतियों में ऐसा ही किया गया है अतः हमने भी संस्कृत के श्लोकों तथा कुछ ऐसे छंदों को छोड़कर जिनमें अधिकांश तत्सम शब्दों का प्रयोग हुआ है तथा जो संस्कृत ढंग से लिखे गये हैं, इसी शैली का अनुसरण किया है। पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी का 'कहना' है—"आज से पचास वर्ष पहिले तक लोग हिंदी की वर्णमाला को संस्कृत की वर्णमाला से कुछ भिन्न सी मानते थे और लिखने में उन्हीं अक्षरों का प्रयोग करते थे जो हिंदी के सुखोच्चार्य शब्दों के लिखने के लिए पर्याप्त थे।" इन सिद्धांतों के परिणाम स्वरूप हमको इन संस्करणों में, कम से कम उन काण्डों में जिनकी बहुत प्राचीन और प्रामाणिक प्रतियाँ मिलती हैं, पाठ बहुत शुद्ध मिलता है। और उनमें हम देखते हैं कि ज्ञ के स्थान पर सर्वत्र ग्य लिखा है। अलग अलग शब्दों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

	मानसांक	वि० त्रि०	गौड़	ना० प्र० सभा
जग्य विधंस जाइ तिन्ह कीन्हा—	पृ० ११२	पृ० ४५	पृ० ३५	पृ० ३२
धीरज धर्म ग्यान विज्ञाना	१२४	५५	४३	४०
त्रिकालग्य सर्वग्य तुम्ह	११३	४५	३६	३३
अग्य जानि रिस जनि उर धरहू	१४३	७१	५६	५१
अनुचित वचन कहेउ अग्याता	२६५	१६६	१३१	१२१
प्रगटे रामु कृतग्य कृपाला	११६	५०	३६	३७
अग्या सिर पर नाथ तुम्हारी	११६	५१	४०	३७

पं० विजयानन्द त्रिपाठी ने अपने लिए यह नियम भी बनाया था कि जिस प्रति के आधार पर जो काण्ड संपादित हो उस काण्ड में उसी का पाठ रक्खा जाय। बाल और अयोध्याकाण्ड की प्रतियों को छोड़कर उन्हें मिली हुई और प्रतियाँ कुछ अर्वाचीन थीं, उनमें कहीं ज्ञ लिखा है और कहीं ग्य, किंतु ग्य का अभाव उनमें भी नहीं है। और प्रतियों में हिंदी अंशों में सर्वत्र 'ग्य' है।

और संस्कृत श्लोकों में सबमें सर्वत्र ज्ञ है। इससे सिद्ध है कि संस्कृत के ज्ञ का हिंदी उदाहरण ग्य है। इसके अतिरिक्त याज्ञवाल्क्य मुनि का जहाँ जहाँ उल्लेख हुआ है वहाँ गोसाईं जी ने उनको जागवलिक कहा है—

	मानसांक	वि० त्रि०	गौड़ ना०	प्र० सभा
जागवलिक जो कथा सुहाई,	पृ० ८५	२४	१६	१७
जागवलिक मुनि परम विवेकी,	पृ० ६८	३४	२७	२५
जागवलिक बोले मुसुकाई,	पृ० ६६	३५	२७	२५

इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञ से ग्य में परिवर्तन केवल अक्षराकार का नहीं है उच्चारण का है और उस परिवर्तन में ग् का संयोग है, अन्यथा 'ज्ञ' का 'ग' न हो सकता जैसा यहाँ हुआ है अर्थात् ज्ञ का हिंदी उच्चारण निश्चय रूप से गादि है, ग् से आरम्भ होता है। ध्यान रहे यहाँ 'याग' से नहीं 'याज्ञ' से 'जाग' बना है। नाम याज्ञवल्क्य है, यागवल्क्य नहीं। हिंदी साहित्य में इस बात के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं कि ज्ञ के हिंदी उच्चारण में ग् और य् का निश्चय रूप से संयोग है। कुछ प्रमाण यहाँ दिये जाते हैं। विद्यापति में ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं है—

माधव पेखल अपरुब वाला। सैसव जावन दुहु एक मेला।।
विद्यापति कह तुहु **अगेआनि**। दुहु एक जोग इह के कह सयानि।।

—पदावली रामवृक्ष शर्मा सं० पृ० ७।

तापर चंचल खंजन जोर। तापर साँपिनि झाँपल मोर।।
ए सखि रंगिनि कहल निसान। हेरइत पुनि मोर हरल **गिआन**।।

—वही पृ० ५२।

लोभे निठुर हरि कएलन्हि केलि। की कहब जामिनि जत दुख देलि।।
हठ मेल रस मोर हरल **गेआन**। निवि-बँध तोड़ल कखन के जान।।

—वही, पृ० १२६।

कबीर—जल मैं कुंभ कुभ मैं जल है, बाहरि भीतर पानी।
फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यहु तत कथौ **गियानी**।।

—कबीर ग्रन्थावली पृ० १०३, ४४।

माया आदर माया मांन। माया नाहीं तहँ ब्रह्म **गियान**।

—वही, पृ० ११४, ८४।

मेरी जिभ्या विस्न नैन नाराइन हिरदै जपौं गोविंदा।
जंम दुवार जब लेखा माँग्या तब का कहिसि मुकंदा।।

तू ब्राह्मण मैं कासी का जुलहा चीन्ह न मोर गियाना।
तैं सब मांगे भूपति राजा, मोरे राम धियाना ॥

वही, पृ० १७३, २५०।

जायसी—सोहं सोहं बसि जो करई। जो बूझै सो धीरज धरई॥
कहैं प्रेम कै बरनि कहानी। जो बूझै सो सिद्ध गियानी॥

अखरावट, अंतिम चौपाई।

दादू—राम बिना सब फीके लागैं, करनी कथा गियान।
सकल अविर्था कोटि करि, दादू जोग धियाना॥

दादू बानी, प्रथम भाग, पृ० २५५, ७५।

इन उद्धरणों से सर्वथा सिद्ध हो जाता है कि ज्ञ के हिंदी उच्चारण में ग् और य् दोनों का संयोग है। यदि यह बात न होती तो 'गियान' रूप बनता ही नहीं, शायद उसके स्थान पर जिञान बनता। ऊपर के उद्धरणों में दो ऐसे भी हैं जिनमें 'गियाना' के साथ साथ 'धियाना' भी आया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि जैसे 'धियान' का पूर्णरूप ध्यान है उसी प्रकार 'गियान' का निकटतम पूर्व रूप 'ग्यान' है। गिआन या गेआन (विद्यापति) से भी स्थिति में कुछ अन्तर नहीं पड़ता। उनमें ग्यान का 'य' 'ई+अ' के रूप में विद्यमान है। गेआन में ए की मात्रा का उच्चारण लघु है और इ के निकट है।

इस प्रकार यह अटल रूप से निश्चित है कि मेरा कथन कि 'ज्ञ' का हिंदी उच्चारण 'ग्य' ही है 'ज्ञ' नहीं सत्य है, अमोघ सत्य है। और जो सत्य है वह अवश्य वैज्ञानिक है। क्योंकि सत्य की खोज का ही नाम विज्ञान है। यही कारण है कि भाषा-विज्ञान के विद्वान् भी इसी निर्णय पर पहुँचे हैं कि ज्ञ का हिंदी उच्चारण ग्य है। उदाहरण के लिए, अपने ग्रंथ, हिंदी भाषा का इतिहास' में पृ० १३६ पर डा० धीरेन्द्र वर्मा ने लिखा है—'ज्ञ (ज्+ञ्) के संयुक्त रूप में कई प्रकार के परिवर्तन हो जाते हैं—

आग्या	आज्ञा।
जनेऊ	यज्ञोपवीत।
जग्य, जाग (बो०)	यज्ञ।
रानी	राज्ञी।

और पृ० १४७ पर लिखा है—

"सं ज् ञ्, ग्ग्य, ग्यान जाग (बो०) यज्ञ ज्ञान"

बात यह है कि आदमी अपने हरेक काम में सुख चाहता है, आसानी ढूंढ़ता है। बोलने में भी वह आसानी चाहता है। इसी मुख-सुख के कारण उच्चारणों में परिवर्तन हो जाता है। समय और परिस्थिति के बदलने से जब किसी अक्षर या शब्द का उच्चारण कठिन जान पड़ने लगता है तो जन-समाज की जिह्वा पर उसका रूप बदल जाता है। ज्ञ के मूल उच्चारण में भी इसी कारण परिवर्तन हुआ और वह परिवर्तित रूप में हिंदी में पहुँचा।

ज्ञ के हिंदी में तीन परिवर्तित रूप मिलते हैं—१ ग्यं या ग्या २ न और ३ ज। ग्यं परिवर्तन में पूर्ण परिवर्तन होता है दोनों अक्षर बदल जाते हैं, ज का ग् और ञ् का य् हो जाता है। न परिवर्तन में ज का लोप हो जाता है और ञ् न् केरूप में विद्यमान रहता है। ज परिवर्तन में ञ् का लोप हो जाता है और ज् रह जाता है।

पहले दो के उदाहरण ऊपर दिये ही जा चुके हैं। तीसरा—जैसे अजान (अज्ञान) ज्ञ के ज और न परिवर्तन विरल हैं और लिखावट में सर्वथा आ गये हैं किंतु ग्य परिवर्तन इतना व्यापक हुआ कि बहुधा अक्षर-परिवर्तन के द्वारा उसका निर्देश करना आवश्यक न समझा गया, क्योंकि ज्ञ को धकेल कर अक्षर के पुराने आकार (ज्ञ) को उसने आत्मसात् कर लिया। यही कारण है कि 'ज्ञ' अक्षराकार के भीतर तथ्य का जो परिवर्तन हो गया उसका असावधान दर्शकों को भान न हुआ और दुराग्रहियों को उसकी ओट में तथ्य-परिवर्तन को अस्वीकार करने का अवसर मिल गया। फिर भी पुराने सावधान लेखकों और लिपिकारों ने इस परिवर्तित उच्चारण का ध्यान रखकर ज्ञ को ग्य ही लिखा है। जैसा हम ऊपर देख चुके हैं। आजकल उच्चारण 'ग्य' होने पर भी अक्षराकार 'ज्ञ' ही रखा जाता है, ग्य हिंदी के पुराने अर्थात् अवधी वा व्रजभाषा के ग्रंथों में ही रक्खा जाता है। इसी बात से धोखा खा कर 'हिंदी शब्दसागर' कारों ने 'ग्यान' को प्रांतिक प्रयोग माना है। पर उन्होंने ज्ञान के उच्चारण को गादि माना ही नहीं, यह बात नहीं।

अब देखना यह चाहिए कि 'ज्' का ग् और ञ का य् या यं कैसे हो गया है। ज् का ग् हो जाना कोई नई बात नहीं। स्वयं संस्कृत में इसके पर्याप्त प्रमाण विद्यमान हैं। 'च जोः कु घिण्यतोः' सूत्र के अनुसार घञ् प्रत्यय लगने से रुज् से रोग भुज् से भोग, युज् से योग और भज् से भाग हो जाता है। संस्कृत से हिंदी की ओर विकास में भी यह प्रक्रिया दिखाई देती है। संस्कृत में जो 'रञ्जन' है वही हिंदी में 'रँगना' हो गया है। अँगरेजी के g वर्ण के शब्दों में जुड़ने पर ज और ग दोनों उच्चारण होना, इस बात का

साक्षी है कि अँगरेजी से भी दोनों उच्चारणों का परस्पर गहरा सम्बन्ध सिद्ध होता है। यही नहीं, संस्कृतेतर भारत-यूरोपीय भाषाओं में यदि स्वयं ज्ञ् धातु की यात्रा का पर्यवेक्षण किया जाय तो पता चलेगा कि वहाँ वह ज् को ग् (या क) और ञ् को न् बनाये विचर रही है, संस्कृत ज्ञ लैटिन और ग्रीक में gno हो गया है और अँगरेजी के कई शब्दों में विद्यमान है जैसे ignorance, agnosticism, cognisance, recognition पर, पुरानी अँगरेजी [(ge) cnawan] पुरानी उच्च जर्मन [– cnaan] पुरानी नार्स (आइस लैंडी) [kna] और फरासीसी में [connaitre] में ग् के स्थान पर क् है। यही बात अँगरेजी शब्द acknowledgement में है। कहीं कहीं इस क् और ग् का उच्चारण नहीं भी होता है जैसे know और gnosis में। पं० चेतराम शर्मा यद्यपि इस बात को नहीं मानते कि ज्ञ का हिंदी उच्चारण ग् युक्त है फिर भी इतना उनको भी स्वीकार करना पड़ा है कि ज् के स्थान पर में ग् हो सकता है। उनके लेख में है यह एक स्थल, जहाँ उन्होंने प्रतिपक्ष को समझने में बुद्धि-प्रयोग की ओर प्रवृत्ति दिखाई है। वे कहते हैं-'ज' को 'ग्' बनानेवाले सूत्र तो हैं, पर 'ञ' को 'य्' बनानेवाले नहीं। परन्तु उनकी जिज्ञासा भी बहुत संकुचित है, जंजीरों से जकड़ी हुई है, सूत्रों से बाहर नहीं झाँकना चाहती। शब्द-प्रमाण से बाहर पाँव रखने का यदि वे साहस करते तो प्रत्यक्ष प्रमाण को उनकी दीठ में पड़ने में देर न लगती। बात यह है कि स्वर-युक्त स्वतंत्र रूप में संस्कृत शब्दों में भी 'ञ्' नहीं के बराबर आता है। अधिकतर वह चवर्गीय अक्षरों के पहिले संयुक्त रूप में ही आता है। इसलिए उसके उच्चारण की बार-बार आवश्यकता नहीं पड़ी। अनभ्यास होते-होते धीरे-धीरे लोग उसका उच्चारण ही भूल गये। और अब यह परिस्थिति है कि 'ञ' की मूल ध्वनि हिंदी में है ही नहीं; उसका स्थान 'य्' ने ले लिया है, जो उसी स्थान (तालु) से उच्चारित होनेवाली उसके निकटतम की ध्वनि है। जैसा डा० वर्मा कहते हैं–'ञ्' अनुनासिक 'य्' अर्थात् 'यँ' से बहुत मिलता-जुलता है।' (हि० भा० का इ०, पृ० १०४) 'ज्ञ' का शुद्ध मूल उच्चारण करने का दावा करनेवाले भी 'ज्ञ'-के स्थान पर 'ज्यँ' और 'याच्ञ' के स्थान पर 'याच्यां' ही कहते सुने जाते हैं। इसी कारण 'ज्ञ' के हिंदी उच्चारण में मूल 'ञ' का 'य्' या 'यँ' हो गया है।

इस प्रकार यह कथन कि 'ज्ञ' का हिंदी उच्चारण 'ग्य' या ग्यँ है, सत्य और वैज्ञानिक दोनों है।

शर्मा जी ने मुझ पर एक व्यंग छोड़ा है, जिसका उत्तर ऊपर नहीं आया है। उन्होंने इस बात पर आश्चर्य प्रकट किया है कि मैं भी "शिक्षा की दुहाई देता हूँ।" 'दुहाई' के माने शर्मा जी के कोष में न जाने क्या हैं! उस परिचय में शिक्षा की दुहाई देने की आवश्यकता ही मुझे नहीं पड़ी थी। यह मैंने अवश्य कहा था कि शिक्षा भी उच्चारण के जिन परिवर्तनों को नहीं रोक सकती, उन्हें स्वीकार करना ही पड़ता है। ऐसा कह कर यदि शर्मा जी के मत में, मैंने प्राचीन शिक्षा की दुहाई दी है, तो शर्मा जी को अब 'नूतन-कोश' भी गढ़ना पड़ेगा। हाँ, यदि इससे वे नई अर्थात् हिंदी-शिक्षा की दुहाई की व्यंजना देखते हैं तो गलती नहीं करते; पर ऐसा करने से उनके व्यंग के लिए स्थान नहीं रह जाता। शर्मा जी यह समझे-बैठे भी जान पड़ते हैं कि शिक्षा एक ही भाषा की सम्पत्ति है, औरों की हो ही नहीं सकती; या यह कि हिंदी का उच्चारण सर्वांश में संस्कृत-शिक्षा के नियमों से ही निश्चित होगा। उनको जानना चाहिये कि भाषा-भेद के साथ शिक्षा-भेद आवश्यक है। संस्कृत से हिंदी में उच्चारण का जो अन्तर पड़ गया है उसका लेखा न करके यदि हिंदी-शिक्षा प्राचीन शिक्षा की आँख मूँदे नकल करती रही, जैसा शर्मा जी चाहते हैं कि ज्ञ के सम्बन्ध में वह करे, तो न वह वैज्ञानिक होगी और न हिंदी की शिक्षा ही।

'परिचय' की एक और बात का खंडन करना शर्मा जी को अभीष्ट हुआ है। मैंने उसमें लिखा था 'पूरब से परिचित न होने के कारण शर्मा जी का ध्यान ने विभक्ति के लोप की गलती की ओर नहीं गया।' इस सम्बन्ध में शर्मा जी का कथन है कि 'नूतन हिंदी व्याकरण' में "(कर्ता की) न विभक्ति, उसके प्रयोग, अप्रयोग और अपप्रयोग पर अति विस्तरेण लिखा है। कुछ अपप्रयोग परिशिष्ट में और कुछ तत् तत् प्रकरण में दिखाये गये हैं।" 'हम खाये हैं', 'हम खा लिए हैं' के लिए वे नूतन व्याकरण, १११ पृष्ठ का अंतिम अनुच्छेद देखने को कहते हैं; पृष्ठ ११२, ११३, ११४, १८२, १९० और २२९ भी देखने की आज्ञा दी है!

परिशिष्ट में अपप्रयोग के स्तम्भ में तो इस गलती का उल्लख है नहीं। पृ० १११ से ११४ और १८२ तथा १९० भी मैं बड़े ध्यान से पढ़ गया हूँ। पर इनमें भी कहीं भी मुझे वह स्थल नहीं मिला जहाँ उन्होंने इस गलती का उल्लेख किया हो। कर्तरि प्रयोग के कुछ उदाहरण उन्होंने अवश्य दिये हैं, जिनमें यह गलती है। पर गलती दिखाने के लिए ये उदाहरण नहीं दिये गये हैं, वल्कि एक ही क्रिया के कर्तरि और कर्मणि उभयविध प्रयोगों को

समझाने के लिए ऐसा किया गया है। इन उदाहरणों से यदि कुछ समझा जा सकता है तो यही कि शर्मा जी इनको गलत नहीं मान रहे हैं। यहाँ पर शायद उनके शब्दों को ही उद्धृत करना ठीक होगा (पृ० ११३) 'जनना और सोचना के भी उभयविधि प्रयोग प्रचलित हैं— 'भैंस पाड़ा जनी,' 'बकरी बच्चे जनी'— कर्तरि प्रयोग; 'भैंस ने पाड़ा जना', मैंने तुझे जना, चित्रांगदा ने उसे जना—कर्मणि प्रयोग। 'वह यह बात सोची', उसने यह बात सोची, 'लड़की यह बात सोची', लड़की ने यह बात सोची—लड़की ने यह तत्व सोचा।' अब पाठक ही बतावें कि क्या यहाँ सचमुच शर्मा जी गलती बता रहे हैं ? अलबत्ता पृ० २८६ पर उन्होंने यह समझाते हुए कि 'जिस पद-वाक्य के आगे प्रश्न चिन्ह कोष्ठ के भीतर हो; वह अशुद्ध संदिग्ध या चिंत्य समझा जाता है', दैवयोग से प्रश्न-चिन्ह का एक उदाहरण यह भी दिया है—हम खाये हैं (?)। इस उदाहरण से ही यदि हम कुछ परिणाम निकालने को बाध्य हों तो इतना ही कहा जा सकता है कि वे उक्त वाक्य को किसी कारण से अशुद्ध, संदिग्ध या चिंत्य, इन तीनों में से कुछ मानते हैं; यह नहीं कि वह निश्चय रूप से अशुद्ध है और वह भी ने विभक्ति के लोप के कारण। इन तीनों में वह क्या है और किस कारण, यह स्पष्ट नहीं कहा गया है, क्योंकि उसकी वहाँ जरूरत ही नहीं थी। जैसा उद्धरण से स्पष्ट है कि यह उदाहरण भी कोष्ठ के भीतर के प्रश्न-चिन्ह का उपयोग बताने के लिए 'विरामादि चिन्ह-विचार' अध्याय के अन्तर्गत दिया गया है, 'ने'--लोप की गलती बताने के लिए नहीं। विभक्ति का वहाँ प्रसंग ही नहीं है। मेरे कथन के विरोध में इसका हवाला देकर यदि शर्मा जी यह कहना चाहते हैं कि उनका अभिप्राय यही था कि इसी से विद्यार्थी समझ लें कि 'ने'-- लोप की भी दुनिया में कोई गलती होती है तो उनकी चातुरी की भूरि--भूरि प्रशंसा करने के अतिरिक्त हम और कर ही क्या सकते हैं ! या यहाँ शर्मा जी हमें भी प्रश्न-चिन्ह के प्रयोग की आज्ञा देंगे ?

इसमें सन्देह नहीं कि 'ने'—विभक्ति का विवेचन करते समय तथा अप-प्रयोगों का वर्णन करते समय शर्मा जी का ध्यान 'ने' लोप की गलती की ओर नहीं गया, नहीं तो वे वहाँ उसकी ओर पाठकों का ध्यान अवश्य आकर्षित करते। शर्मा जी को अगर शिकायत हो सकती है तो इतनी ही कि मुझे यह न कहना चाहिए था कि उनके पूरब से परिचित न होने के कारण ऐसा हुआ।

किंतु शर्मा जी को इतने ही खंडन से संतोष नहीं हुआ। 'ने'—लोप की गलती के उदाहरण में मैंने बाबू मैथिलीशरण की एक पंक्ति उद्धृत की थी। वह पंक्ति है—'गुरु वसिष्ठ जाबालि और तब हेरे' खड़ी बोली सुनने के आदी

कानों को यह चरण सहसा खटक जाता है। उसका शुद्ध रूप होता—'गुरु वसिष्ठ ने जावालि-ओर तब हेरा।' परन्तु छन्द में होने के कारण शर्मा जी उक्त चरण को अशुद्ध नहीं मानते। उनको वह सरस जान पड़ता है। उनका मत यह भी है कि 'हेरे' के स्थान पर 'हेरा' होता तो सरसता लुप्त हो जाती। छंद की बात तो जाने दीजिये। छंद के लिए व्याकरण की हत्या नहीं की जा सकती। बाबू मैथिलीशरण जी ने छंद के बंधन के कारण विवश होकर शायद ही यह गलती की हो। छंद-रचना-कौशल में उनसे पटु शायद ही कोई हो। यह प्रांतिक प्रयोग अनजाने ही उनसे हो गया। उन्हें यदि वह खटकता तो वे उसे दूसरे रूप में ढाल देते। अब रहा काव्य की सरसता का आग्रह। सो हेरे की तुलना में हेरा 'अति सांसारिक' है, उसमें 'नग्न बकवा-दीपन' है (—'नग्न वकवादीपन बड़े लुभावने शब्द हैं, किंतु मैं लोभ-संवरण करूँगा!), और 'भावुकता का अभाव' है—यह मेरे लिए नई बात है। 'हेरा' का 'हेरे' हो जाने ही से काव्य में कोई सरसता नहीं आ जाती। स्वयं बा० मैथिलीशरण गुप्त देखा-पेखा क्रियाओं का बराबर प्रयोग करते रहते हैं और उनके आकार के कारण उनके काव्य में भद्दापन और कठोरता नहीं आती। यदि उनसे भद्दापन आदि आता तो आज काव्य में उनका कहीं पता न रहता। उनके स्थान पर सर्वत्र 'देखे' और 'पेखे' विराजते होते।

परन्तु शायद शर्मा जी ने सरसता का दूसरा आधार खोजा है, वह है 'हेरे' का बहुवचन। शर्मा जी व्याकरणी हैं, अब उनका व्याकरण-चमत्कार देखिये। उनका कथन है कि हेरे आदरार्थक बहुवचन है। उससे किसका आदर होता है? क्या गुरु वसिष्ठ का? वही इसका उत्तर 'हाँ' दे सकता है, जिसको ने लोप की गलती नहीं खटकती; क्योंकि 'ने' का प्रयोग हो जाने के बाद कर्मणि प्रयोग में क्रिया के लिंग-वचन कर्म से शासित होते हैं, कर्त्ता से नहीं। परन्तु शर्मा जी का उद्देश्य ही यह सिद्ध करना है कि नहीं जी मेरा ध्यान इस गलती की ओर जरूर जाता है।

तो क्या जावालि का! जावालि शब्द के साथ यदि 'ओर' न जुड़ा होता तो जावालि के प्रति आदर प्रदर्शन के लिए 'हेरे' आवश्यक होता, किंतु 'ओर' ने उस अवस्था को रोक दिया है और शर्मा जी के लिए दो ही मार्ग खुले रक्खे हैं कि या तो वे स्वीकार करें कि मुझे 'ने' लोप की गलती खटकती नहीं है या फिर 'ओर' से प्रार्थना करें कि "हे देवि! प्रसन्न होकर स्त्रीलिंग-बहुवचन रूप में विराजिए ('ओरें हेरीं') हम आपका आदर करना चाहते हैं!"

चौरंगीनाथ

चौरंगीनाथ उन महात्माओं में से हुए हैं जिन्होंने अपनी कठोर साधना से प्राप्त सिद्धि को जन-वाणी के द्वारा सर्व-साधारण के लिए सुलभ करने का प्रयत्न किया था। सीधी-सादी जनता के हृदय तक पहुँचने के लिए उन्होंने सीधी-सादी भाषा का प्रयोग किया था। और जान पड़ता है, कि जनता के हृदय पर इसका इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि यद्यपि उनकी रचनाएँ बहुत कम मिलती हैं फिर भी उनके नाम का आज भी प्रभाव आ ही जाता है।

चौरंगीनाथ नाथ संप्रदाय के योगी थे। उनके जीवन का कोई ऐसा विवरण नहीं मिलता जिसको इतिहास कोटि में गिन सकें। उत्तराखंड में प्रचलित झाड़-फूँक के मंत्रों में उनका उल्लेख हुआ है। ये मंत्र अलग-अलग स्थानों में कुछ अंतर के साथ मिलते हैं। इन विभिन्न स्थानों में मिलनेवाले मंत्रों में और चाहे जो अंतर हो, इनके संबंध की एक घटना का उल्लेख आवश्यक मिलता है, जिससे इनके नाम की सार्थकता प्रकट होती है।† वह घटना है कि इनके कटे हुए हाथ-पाँव फिर से उग आये। इनके हाथ-पाँव क्यों और कैसे कटे थे, इसका उल्लेख इन मंत्रों में नहीं है।

दादूपंथी साधु राघवदास ने अपने भक्तमाल में इसका कारण बताया

---

†—"चौथा पहर तोहि सुमरौं चौरंगीनाथ वीर भैराऊ...
जिनने गये हाथ पाँव मोलाई लीया।"
धरमसील सत रापतैं चौरंगी कारज सरे।
अद्भुत रूप निहारि दौर करि माँई पकरयो॥
दांवण लीयो फारि जोरि करि बाहर निकरयो।
रंको करी पुकार पुत्र अच्छया हो-जाया॥
राजा मन पछिताय हाथ पग दूरि कराया।
राघो प्रगटे परमगुर कर पद ज्यूं के त्यूं करे॥
धरमसील सत रापतैं चौरंगी कारज सरे।

है। चौरंगीनाथ अत्यंत रूपवान राजकुमार थे। उनकी [सौतेली] माता उनपर मोहित हो गयी। उसने एक दिन इन्हें बुरी दृष्टि से पकड़ना चाहा। ये बल-पूर्वक अपने को छुड़ाकर भाग गये। इन्हें इतना बल लगाना पड़ा कि इनका पल्ला फट गया। रानी को क्रोध आया और उसने राजा से उलटे उलहना दिया कि अच्छा पुत्र पैदा किया है आपने। राजा को वास्तविक बात तो मालूम थी नहीं, उसको पुत्र की करनी पर बड़ा पछतावा हुआ। क्रोध में आकर उन्होंने उसके हाथ-पाँव कटवा दिये। राजकुमार धर्मशील और निर्दोष था। उसने सत की रक्षा की थी। इसलिए परम गुरु ने प्रकट होकर उसके हाथ-पाँव ज्यों-के-त्यों कर दिये। नाथपंथ में परम गुरु आदिनाथ शिव माने जाते हैं। और गोरखपंथ में गोरखनाथ। कथानकों पर कनफटों (गो० पं०) का ही अधिक प्रभाव है। इसलिए गोरख ही के प्रभाव से हाथ-पाँव का उग आना समझना चाहिए, यद्यपि ऊपर कहे मंत्रों के अनुसार चौरंगीनाथ के प्रभाव से ही ऐसा हुआ था। चौरंगी वीर राजपुत्र था, इसकी कुछ-कुछ पुष्टि इस बात से भी हो जाती है कि एक मंत्र में वह सौ मन भारी बरछा खेलाने वाला कहा गया है।‡

यह कथा राजा रसालू की कथा से मिलती है, पूरनमल भक्त की कहानी जिसका आधुनिक रूप जान पड़ती है। दंतकथाओं के अनुसार यह रसालू राजा शालिवाहन का पुत्र था। जो गोरखनाथ के आशीर्वाद से उत्पन्न हुआ था। इन मंत्रों के अनुसार चौरंगीनाथ के ही प्रभाव से शालिवाहन के पुत्र हुए, चौरंगीनाथ के पिता का नाम उनमें नहीं दिया गया है। यह संभव है कि मंत्र और किंवदंती दोनों में विरोध न हो। रसालू हाथ-पाँव उग आने के बाद जोगी हो गया था। हो सकता है कि इस घटना के बाद उसके आशीर्वाद से शालिवाहन के पुत्र हुए हों।†

राजा शालिवाहन का चौरंगी के साथ उल्लेख सम्भवतः हमें इतिहास की भूमि में पैर रखने के लिए थोड़ी सी जगह दे। मंत्रों के प्रभाव पर हम जितना संदेह कर लें, किन्तु यह संदेह हम उन पर नहीं कर सकते कि किसी बाहरी उद्देश्य की पूर्ति के लिए शालिवाहन का उल्लेख करके उनमें जाल रचा गया है। अब प्रश्न यह उठता है कि यह शालिवाहन कौन था ? पंजाब और राजस्थान की किंवदंतियों के अनुसार यह शालिवाहन पंजाब के स्यान कोट

नगर का राजा था। पुराने राजाओं में चार शालिवाहनों का उल्लेख इतिहासों में मिलता है। एक चम्बा का वंशज गुहिलोल शालिवाहन (लगभग १०३४ सं०), कंवा का राजा शालिवाहन (स० १०९३ वि० विद्यमान) जैसलमेर के आधुनिक राजवंश का एक अन्य पूर्व अति प्राचीन पूर्व पुरुष तथा उसी घराने का पुरुष (लगभग सं० १२४५ वि०)। परंतु प्रथम दो के संबंध में कहीं कोई बात ऐसी नहीं मिलती जिससे उनमें से किसी का सम्बन्ध चौरंगीनाथ से घटित हो। इससे उनके सम्बन्ध में विचार छोड़ना पड़ता है। और एक ही शालिवाहन का इस सम्बन्ध में विचार करना शेष रह जाता है।

किंवदंतियों के शालिवाहन को टॉड और मुहणोत नैणसी दोनों जैसलमेर के राजवंश का बहुत पूर्व पुरुष मानते हैं।† यह राजवंश पंजाब से राजस्थान में आया था। शालिवाहन के रसाल, बालंद, धर्मागद, साहब इत्यादि १५ पुत्र माने जाते हैं।* कहते हैं, इसी ने स्यालकोट बसाया था जिसका प्राचीन नाम सालभानपुर था। नैणसी ने भी शालिवाहन को रसालू का पिता कहा है।‡ जैसलमेर के राजवंश में जोगियों का अब भी बड़ा मान है। वहाँ जब नया रावल (राजा) पाट बैठता है तो वह जोगिया बाना पहनता है, यद्यपि नैणसी ने इस प्रथा का प्रारंभ बहुत पीछे देवराज भाटी के समय से बताया है।×

एव शालिवाहन को ऐतिहासिक व्यक्ति मानने में कोई अड़चन नहीं और चौरंगी से भी उसका सम्बन्ध सीमा के अंतर्गत है। परन्तु शालिवाहन के समय का सीधा कोई अनुमान नहीं लगाया जा सकता। टाड ने उसका समय सं० ७० वि० माना है। परंतु इसका कोई प्रमाण नहीं। उसके एक वंशज देवराज भाटी का उल्लेख जोधपुर से मिले राजा बाहुक के एक शिलालेख में हुआ है।÷ यह शिलालेख सं० ८९४ वि० चैत्र सुदी ५ का लिया है। इसके अनुसार बाहुक के पांचवें पूर्वज शिलुक ने देवराज भाटी को हराया था। बीच के चार राजाओं के लिए २०-२० वर्ष का अंतर रख कर गहलोत ने सं० ८१४ वि० शिलुक का और तदनुसार देवराज भाटी का

---

†—नैणसी ख्यात, भा० २, पृ० २६०।

*—गहलोत राजस्थान का इतिहास, भा० १, पृ० ६५०।

‡—नैणसी ख्यात, भा० २, पृ० २६०।

×—वही पृ० २६९।

÷—ज० रा० ए० सो० १८९४, पृ० ४६।

समय माना है । *और इसी हिसाब से सात पीढ़ी पहले भाटी का समय ६८० वि० ठहराया है । राजाभाटी के नाम से जो संवत् चला उसमें और विक्रमी सं० में ६८० का अंतर है । इससे भी भाटी का समय ६८० वि० ठहरता है । नैणसी ने भाटी को शालिवाहन का पुत्र और रसालू का बड़ा भाई माना है । पर अन्यों के अनुसार दोनों के बीच में दो पीढ़ियाँ हैं । इस प्रकार शालिवाहन का समय ६४० वि० हुआ ।

इस संवत् के विरुद्ध एकाध बात प्रस्तुत की जा सकती है । एक तो यह कि संवतों के साथ किसी व्यक्ति का नाम उनके आरंभ होने के बहुत बाद जुड़ता है । जैसे शक संवत्सर के साथ आंध्रराजा शालिवाहन का नाम १४११ वि० के आस-पास जुड़ा ।‡ इसी प्रकार राजवंशावलियों में बहुत से पुराने नाम केवल कल्पित हुआ करते हैं जिससे उनका मूल बहुत पुराने समय में जा पहुँचता है ।

उपर्युक्त पहाड़ी मंत्रों में एक और बात लिखी है, जो इस संवत को सही मानने के विरुद्ध जाती जान पड़ती है । वह यह कि चौरंगीनाथ के सेवकों (शिष्यों) में हिन्दू मुसलमान दोनों थे ।† यदि इस कथन में कुछ तथ्य है तो चौरंगीनाथ सातवीं शताब्दी के नहीं हो सकते । सं० ७६६ वि० में सिंध में भारत पर मुसलमानों का पहला आक्रमण हुआ । इसके बाद सं० १०५० के लगभग फिर पश्चिमोत्तर से आक्रमण होने लगे । अतएव यही समय लगभग ऐसा है जिसमें पंजाब में मुसलमानों का होना माना जा सकता है । चौरंगीनाथ का भी लगभग यही समय मानना चाहिए । यद्यपि शालिवाहन का समय ७२ विक्रमी माना है फिर भी उसके सम्बन्ध में उसने लिखा है कि शालिवाहन ने दिल्ली के तंवर राजा जयपाल की कन्या से विवाह किया था । जयपाल का यही समय है । सं० १०५० वि० में वह विद्यमान था । इस समय के आस पास वह सुबुक्तगीन से भिड़ा था । हो सकता है कि शालिवाहन पहला और दूसरा दो व्यक्ति न होकर एक ही व्यक्ति के दो रूप हों जो न तो इतने बाद में हुआ हो, जितने बाद में (१२४५ वि०) दूसरे शालिवाहन का होना बताया जाता है और न इतने पहले जितना पहले का (६४० वि०) । चौरंगीनाथ के नाम से हिंदी में जो एक मंत्र है उनका आवाहन यों किया गया है—

"श्री संतोषनाथ वीर भैराऊँ नदी पार चौरंगीनाथ वीर भैराऊँ खंतड़िया-गुदड़िया वावा चौरंगीनाथ वीर भैराऊँ" इससे पता चलता है कि उनका आश्रम कहीं नदी पार था और वे संतोषनाथ और खंतड़िया वावा या गुदड़िया वावा कहकर भी पुकारे जाते थे। संतोषनाथ स्तोत्र में संतोषनाथ नव-नाथों में से एक माने गये हैं। कंथाधारिन् गोरक्ष आदि अन्य कुछ सिद्धों के साथ सावर मंत्र में कापालिकों में से गिने गये हैं। सुकेत रियासत में सतलज के उस पर गोदड़िया वावा की गुफा वताई जाती है।

यह द्रष्टव्य है कि गोरख, मीन, चर्पट और जलंधर के साथ कंथाधारिन नाम तो सावर तंत्र में हैं किंतु संतोष या चौरंगी नहीं। इसी तरह नवनाथों में चौरंगी नाम नहीं है। चौरंगी सरीखे सिद्ध का नवनाथों में लिया जाना कुछ आवश्यक सा जान पड़ता है। नाथ-पंथ में कंथड़ और चौरंगी दोनों नाम आते हैं, किंतु कोई ऐसी वात नहीं दिखायी देती जिससे यह पता चले कि दोनों एक ही के नाम हैं। कम-से-कम यह असंभव नहीं कि संतोषनाथ चौरंगी का ही दूसरा नाम हो। सवदियाँ मिलती हैं, वे भी उन्हें वहुत पुराने समय में ले जाने के पक्ष में नहीं हैं' क्योंकि उनका रूप वहुत पुराना नहीं है। मंत्रों में यह भी लिखा है कि उन्होंने अपने जेठे भाई का कटा सिर जुड़ा दिया था।+ और ये सिद्धि लाभ कर ज्योति स्वरूप हो गये थे। भूत-प्रेत-वीर-वैताल और व्याधि सवके ऊपर इनका अधिकार वताया गया है और उनसे रक्षा पाने के लिए उनकी दुहाई दी जाती है। इनकी शक्ति (अरधंगी) का नाम हंसावदनी वताया गया है। संभवतः यह उसकी स्त्री नहीं; सिद्ध या देव रूप प्राप्त हो जाने पर जनता द्वारा-कल्पित शक्ति है।

किंवदंतियों में गोरखनाथ इसके गुरु माने जाते हैं। 'गोरख-चौरंगी गुष्टि' में गोरख चौरंगी को गुरु और चौरंगी गोरख को गुरु कहकर संवोधित करता है। प्रश्न गोरखनाथ पूछते हैं और उत्तर चौरंगीनाथ देते हैं। किंतु उसमें चौरंगीनाथ सवसे ऊँचा स्थान जती गोरखनाथ का वताते हैं। जान पड़ता है कि यह 'गुष्टि' चौरंगीनाथ के सिद्धि लाभ करने के वाद की अवस्था वताती

+ जिनने जेठा भाई का काटा सीस लोटाई लिया।... जिनने वावन सौ वेड़ा वावन वीर को वाण संघारी लीया देवता राखे दृष्टी कर लिया अरधंगी देवी हंसावदनी रुवा चौरंगीनाथ वीर भैराऊँ येई घटपिंडा तू रख ले वावा तेरी चौकी तेरो इच्छा।' 'श्री सिद्धनाथ (१८) वुद्ध जोतंग...

है, जब गुरु और शिष्य का भेद नहीं रह जाता। इसी से गोरखनाथ चौरंगी को गुरु कहकर पुकारते हैं। और वास्तविक गुरु गोरख थे, इससे सबसे ऊँचा स्थान गोरखनाथ का कहा गया है। यह गुष्टि चौरंगीनाथ की साधना में क्रमशः ऊपर उठने की कथा सी लगती है। धार्मिक रंग को लिये हुए भूगोल-खगोल का यह वर्णन नाथ साहित्य में निराला ही है। एक लोक से ऊपर चढ़ दूसरे लोक में चढ़ते हुए सबसे अंत में वे अन्हदपुर पाटण में पहुँचते हैं जहाँ अवलागिरि पर्वत पर अनुपमहल (स्थल) में अटल वृक्ष की अटल छाया में गोरखनाथ बैठे हैं। और फिर बताते हैं कि उतरते हुए किस-किस लोक से उन्होंने क्या लिया। इसका रचयिता कौन है, नहीं कहा जा सकता। इसकी जो प्रति मेरे सामने है वह सं० १८६९ वि० की लिखी हुई है।

तंज्यूर में चौरंगी का नाम उल्लिखित है, जहाँ वे वायुतत्त्व भावनोपदेश नामक ग्रंथ के रचयिता बताये गये हैं। हिंदी में उनकी चार छोटी-छोटी सबदियाँ मिलती हैं। जो बहुत समय तक परंपरा से कानों-कान चली आने के कारण संपूर्ण रूप में उतनी पुरानी नहीं हो सकतीं जितने स्वयं चौरंगी रहे होंगे। जान पड़ता है कि ये सबदियाँ दादू के शिष्य रज्जब के समय में लिपि-बद्ध रूप में विद्यमान थीं। उन्होंने अपने सर्वांगी नामक अपने बृहत् संतवाणी संग्रह में नाथ सिद्धों की बानियों को भी स्थान दिया है। जोगियों की बानी का सबसे प्राचीन विद्यमान संग्रह सं० १७१५ वि० का है जिसमें गोरख की बानी संगृहीत है। लगभग यही समय सर्वांगी का है। यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इससे पहले भी योग बानियाँ लिखित रूप में रही होंगी। परंतु स्पष्ट प्रमाण कोई मिलता नहीं है। निश्चित रूप से यह भी नहीं कहा जा सकता कि सबदियों में जो अंतर आया होगा वह भाषागत ही है या भावगत भी। यह आशा कर सकते हैं कि इनमें अर्थ-संबंधी कोई परिवर्तन यदि हुआ होगा तो बहुत कम। इन सबदियों से पता चलता है कि इनका कर्ता सब ज्ञानों के मूल उस निरंजन निराकार का उपासक था। जिसके साधन सेवन से शाखा-धर्म अपनी चिंता आप करते हैं, उनके संबंध में सचेष्ट रहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। पवन के अभ्यास, मन मारण, पंचतत्त्व वशीकरण, प्रत्याहार आदि से उसने सब साधनों के परिणाम रूप उन्मनी समाधि को सिद्ध कर लिया था और इस प्रकार आवागमन से दूर हो गया था। उनकी ये सबदियाँ यहाँ दी जाती हैं:—

मूल सींचो रे अवधू मूल सींचो, ज्यों तरवर मेल्हत डारं।
कहै चौरंगी मूल सींचिया, यूं अनभै उतरिया पारं ॥ १ ॥

मारिवा तौ मन-मीर मारिवा, लूटिबा पवन भंडारं।
साधिवा तौ पंचतत साधिवा, सेइवा निरंजन निराकारं ॥ २ ॥
अगनी सेती अगिन जालिबा, पांणीं सेती सोपिबा पांणी।
वाई सेती बाइ फेरिवा, आकासि मुषि बोलिबा बांणीं ॥ ३ ॥
माली लौ भल मन माली लौ, सींचै सहज कियारी।
उनमनि कला एक पहुप निपाइ ले, आवागवन निवारी ॥ ४ ॥

नोट पाठांतर—'मन मस्त हस्ती'

हमारी कला और शिक्षा

सभ्यता-संस्कृति का तारतम्य हो

१६४० ई० की कोटद्वार ग्रामसुधार प्रदर्शिनी के अवसर पर कला और शिक्षा-विभाग की प्रदर्शिनी का उद्घाटन करते समय डा० बड़थ्वाल ने यह लिखित भाषण दिया था। यह हमें इस विभाग के संयोजक महोदय के सौजन्य से प्राप्त हुआ है; जिसके लिए हम प्रदर्शिनी कमेटी के आभारी हैं।)

सम्पादक।

आप लोगों ने मुझे कला और शिक्षा-विभाग की प्रदर्शिनी के उद्घाटन के लिए निमंत्रित कर मेरा जो सम्मान किया है उसके लिए मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ। आपके निमंत्रण को स्वीकार करते समय मैंने इस बात की चिंता नहीं की कि मैं इस पद के योग्य हूँ या नहीं। मैंने केवल आपकी आज्ञा-पालन का विचार किया। मुझे इस काम के लिए बुलाकर आपने अच्छा किया हो या नहीं, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि उद्योग की प्रदर्शिनी के साथ शिक्षा और कला का विभाग जोड़कर आपने बहुत अच्छा किया है।

उद्योग-धंधों की आजकल अत्यन्त आवश्यकता है। हमारे देश की जो हीन दशा है, बेकारी जितनी बढ़ी हुई है, देश की सम्पत्ति का जिस वेग से ह्रास हो रहा है उसे देखते हुये उनके प्रोत्साहन के लिए विशेष जोर देना आवश्यक है। परन्तु इसके साथ यह भय भी बना रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि लोगों की दृष्टि एकांगी हो जाय; शरीर की आवश्यकताओं पर जोर देकर कहीं आत्मा की आवश्यकता की उपेक्षा न हो जाय। जसा अंगरेजी की कहावत है मनुष्य रोटी ही से नहीं जीता है। उसके पेट की भूख बुझाना ही जरूरी नहीं, उसे सुख और सुभीते देना ही आवश्यक नहीं, उसके मनकी आग की भूख बुझाना भी उतना ही जरूरी है। उस ओर जहाँ आपने शरीर की भूख को सुभीते से शांत करने के उपायों का प्रदर्शन किया है वहाँ इस ओर आत्मा की आवश्यकताओं का भी ध्यान रखा है। उस ओर शरीर को सुख देने के

की यथार्थता और भाव की आदर्शता ये दोनों पहाड़ी शैली की विशेषतायें हैं। पहाड़ी चित्रकार भावुक होते हैं; उनके बनाये चित्र दर्शकों के हृदय में रस का उद्रेक करते हैं। उनकी कृतियाँ बड़ी अर्थ भरी और सजीव होती हैं; उनकी रेखा-रेखा में जीवन का स्पन्दन होता है और उनमें उस प्रतिभा के दर्शन होते हैं, जो प्रतिपल नवोन्मेष प्राप्त करने वाली रमणीयता का उत्पादन करती है। उनके विषयों का क्षेत्र विस्तृत है। मानव-जाति के सभी भावों को चित्रित करने में उन्होंने सफलता पाई है।

गढ़वाल ने भी इस पहाड़ी कला की सफलता में योग दिया है। मोला-राम को जो यश प्राप्त है वह इस बात का साक्षी है। मोलाराम को गढ़वाल की कला का प्रतीक समझना चाहिये। उनकी कृतियों ने जगत को मोहित कर दिया है। उनके नाम से जो रचनायें मिलती हैं उनमें बड़ा विषय-विस्तार है। उनके अन्तर्गत नायिकाभेद, पौराणिक विषय आदि-आदि के चित्र उन्होंने चित्रित किये हैं। जिन बातों को कवियों ने अपनी साहित्यिक रचनाओं में नहीं दिखा पाया है उनको मोलाराम ने रेखाओं और रंगों में दिखा दिया है। ये स्वयं कवि थे। साहित्यिक शब्द-चित्रों को उन्होंने बड़ी सफलता के साथ अपने चित्रों में जीवन-दान किया है। रंगों के मिश्रण में मोलाराम बड़े कुशल जान पड़ते हैं; विशेषकर सुनहरे और हरे रंग के सम्मिश्रण में। परन्तु मोलाराम के नाम के नीचे न जाने कितने कलाकार दबे हुए हैं! जितने चित्र मोलाराम के नाम से मिलते हैं, सब उनके चित्रित किये हुए नहीं हैं। स्वयं मोलाराम का घराना चित्रकारों का घराना था परन्तु उनके बाद के उनके कुल के चित्रकारों का परिचय हमें प्राप्त नहीं है। चैतू, माणकू इत्यादि गढ़वाली चित्रकारों के नाम सुने जाते हैं, किन्तु उनके विषय में भी हमें कोई ज्ञान नहीं। अब हम लोगों का कर्तव्य है कि इस बात की खोज का प्रयत्न करें कि मोलाराम के पीछे अथवा पहले कौन-कौन कलाकार हुए और उन्होंने कला को क्या-क्या दान किया?

यह बड़े हर्ष का विषय है कि आज भी गढ़वाल में कला का अभाव नहीं है। आचार्य श्री अवनीन्द्रनाथ टाकुर ने अजंता की शैली से प्रेरणा पाकर जिस आदर्श, भावनामय, नवीन, भारतीय कला को जन्म दिया है उसके सद्भाव में लखनऊ आर्ट स्कूल से गढ़वाल के युवकों का भी एक समुदाय निकल रहा है, जो निश्चय ही गढ़वाल की पुरानी चित्रकला को नया रूप प्रदान कर रहा है। यह समुदाय जिस उत्साह, परिश्रम और प्रेरणा से काम कर रहा है, वह प्रशंसनीय है। उनकी कृतियाँ बहुत उज्ज्वल भविष्य

की ओर संकेत करती हैं। संतोष का विषय है कि उनको स्थानीय ही नहीं बाहर के प्रान्तों में भी सम्मान प्राप्त हो रहा है। मुझे पूर्ण आशा है कि इन युवकों के रूप में हम मोलाराम का नया रूप देखेंगे।

यहाँ मुझे शोक के साथ यह कहना पड़ रहा है कि इन्हीं युवकों में से एक को परम चित्रकार परमात्मा ने अपने में उठा लिया है! वे थे पं० मनोरथ-प्रसाद जोशी। मनोरथ जी के चित्र बड़े सुन्दर हुआ करते थे; पत्र-पत्रिकायें उन्हें बड़े सम्मान के साथ छापती थीं। 'वनदेवी' और 'दीपावली' उनके उच्च श्रेणी के चित्र हैं और वे गढ़वाल के चित्रकारों के इतिहास में अपना उचित स्थान प्राप्त करेंगे। खेद है कि उनसे जो बड़ी-बड़ी आशायें बँधी थीं, वे निष्ठुर नियति द्वारा बीच ही में तोड़ दी गईं। मुझे विश्वास है कि गढ़वाल में चित्रकला की उन्नति देखकर उनकी आत्मा बड़ा सुख पायेगी।

चित्रकला में गढ़वाल और तरह से भी अच्छा स्थान प्राप्त कर रहा है। गढ़वाल से सम्बन्ध रखनेवाले विषय भी कला के लिए खूब लिये जाने लगे हैं। कुछ बाहरी चित्रकारों को इसमें काफी सफलता मिली है। पर मैं समझता हूँ कि इस दिशा में गढ़वाली स्वयं जो सफलता प्राप्त कर सकते हैं वह बाहरी लोग नहीं प्राप्त कर सकते। गढ़वाली, गढ़वाल की आत्मा में प्रवेश कर उसके जीवन को जितने भीतर से देख और समझ सकता है उतना बाहरी नहीं। इसलिये युवक चित्रकारों से मेरा अनुरोध है कि वे गढ़वाल के जीवन की अपने चित्रों-द्वारा व्याख्या करें।

एक बात और कह दूँ। अब तक पहाड़ी चित्रकला की यह कमी रही है कि एक-चक्षुचित्रों में ही सफलता प्राप्त कर सकी है। द्विचक्षु यदि कहीं मिलते भी हैं तो उनमें उसको सफलता प्राप्त नहीं हुई है। रेखांकन, वर्णिकता और घुलाई इतनी विकसित नहीं थी कि उसमें सामने की द्विचक्षु मुखाकृति दिखाई जा सके। अर्थात् गढ़वाली चित्रकारी में यथार्थता का भाव विद्यमान होते हुए भी उसमें यथार्थता को प्रदर्शित करने के पूरे साधनों की सिद्धि नहीं थी। पाश्चात्य चित्रकारी में यथार्थता का विशेष आधार है। मैं समझता हूँ कि अपनी आदर्श भावुकता का बिना हनन किये हुए उसको बढ़ाने के लिये जितनी पाश्चात्य यथार्थता का हम प्रयोग कर सकें उतनी यथार्थता का प्रयोग होना चाहिए। चित्रकला का भविष्य गढ़वाल में बहुत आशाजनक है—इसमें कोई संदेह नहीं।

किन्तु चित्रकला ही एकमात्र कला नहीं है। काव्य कला, संगीत, तक्षण और वास्तु कलाओं का भी पूरा विकास होना चाहिए। काव्यकला का विकास

यहाँ चित्रकला के ही सदृश काफी बढ़ रहा है। प्रकृति की गोदी में जो कोमल हृदय हमने पाया है उसके परिणामस्वरूप कवि की मर्मानुभूति हमने बड़ी अच्छी तरह पायी है। आजकल हमारे बीच में कई सुन्दर कवि और लेखक विद्यमान हैं। आज तक परिस्थितियों की जटिलताओं के कारण कभी-कभी हमारी काव्य-प्रेरणा सो जाया करती थी, किन्तु कुछ समय से यह देखा जा रहा है कि गढ़वाल की काव्य-साधना एक स्थायी वस्तु होने जा रही है और वह साहित्य की अभिवृद्धि में उसे सम्पन्नता प्रदान करने में काफी सफल होगी।

परन्तु संगीत का हमारे यहाँ से प्रभाव हटता जा रहा है, यह खेद की बात है। प्राचीन तक्षण-कला और वास्तु कला के हमारे यहाँ काफी अच्छे उदाहरण हैं, जिनकी ओर हमारा ध्यान जाना चाहिए।

यह भी बड़ी प्रसन्नता की बात है कि हमारे यहाँ शिक्षा का, विशेषकर प्राथमिक शिक्षा का, अच्छा विकास है। परन्तु माध्यमिक शिक्षा के लिए काफी साधन यहाँ विद्यमान नहीं हैं और उच्च शिक्षा प्राप्त होने के यहाँ साधन ही नहीं हैं! यहाँ सार्वजनिक प्रेरणा से दो चार और भी सार्वजनिक हाई स्कूल खुलने चाहिएँ और एक डिग्री-कालेज का हम लोगों को आदर्श ही नहीं रखना चाहिए, प्रत्युत उसके लिए काम भी प्रारम्भ कर देना चाहिए।

परन्तु शिक्षा को केवल पोथी-पत्रों का आखरी (अक्षर-वाला) व्यापार ही न समझना चाहिए। शिक्षा है भीतर छिपी हुई वास्तविक मानवता को बाहर खींचना! वह हमको अधिक सजीव मानव बनाती है, हम में आदमीयत भरती है। अहंकार से मानवता को दबा देने वाला अक्षरी ज्ञान ज्ञानशिक्षा नहीं है। आजकल की उल्टी परिस्थितियों में, जब कि बजटों में शिक्षा को बहुत नीचा स्थान मिलता है, तब शिक्षा को स्वावलम्बी बनाने का प्रयत्न प्रशंसनीय है।

परन्तु मेरा विनम्र निवेदन है कि यह अवस्था आजकल की परिस्थिति में ही प्रशंसनीय कही जा सकती है, उसको आपेक्षिक महत्व मिलना चाहिए, सर्वकालीन निरपेक्ष महत्व नहीं। आशा है कि अपने आपको शिक्षा देने के व्यय के भार को सदा के लिए निस्सहाय शिशु के असमर्थ कंधों पर ही नहीं छोड़ दिया जायेगा। और राष्ट्र अपने प्रत्येक भावी नागरिक को शिक्षित बनाने के अपने उत्तरदायित्व को साहस के साथ अपने ऊपर लेगा। कोमल शिशु की शिक्षा के द्वारा यदि कुछ कमी भी हो जाय तो शायद बुरा नहीं

किन्तु यह सिद्धान्त, कि उसकी सिलाई से जो कमाई हो उसी से उसकी शिक्षा हो जाय, यह अनुचित और असम्भव है !

यह देखकर मुझे अत्यन्त हर्ष है कि हमारे यहाँ थोड़ी बहुत जितनी भी शिक्षा है उसमें जीवन के लक्षण है, जिसके यहाँ काफी प्रमाण है। और यह बहुत श्रेयस्कर है; क्योंकि शिक्षा सभ्यता और संस्कृति दोनों की आधार-शिला है।

मैं इस शुभ कामना और प्रार्थना के साथ शिक्षा और कला-विभाग की प्रदर्शिनी का आप लोगों के आदेश से उद्घाटन करता हूँ जिससे कि इसके द्वारा शिक्षा और कला की अनंत उन्नति का द्वार उघड़ जाय।

'मेल्णो' की जीवन-कथा

मैं आपको किसी मनुष्य की नहीं एक शब्द की जीवन-कथा सुनाने जा रहा हूँ। शब्द भी मनुष्यों से किसी बात में कम नहीं। उनका अपना अलग व्यक्तित्व और अलग इतिहास होता है। मनुष्यों ही की भाँति कभी उनका उत्कर्ष होता है, कभी अपकर्ष, कभी अर्थ संकोच हो जाता है कभी अर्थ विस्तार। मायावी तो वे बहुत बड़े होते हैं। वेश बदले हुए ऐसे घूमा करते हैं कि भेदू ही पहिचान पाते हैं और कभी-कभी वे भी धोखा खा जाते हैं। अपनी लम्बी जीवन यात्रा में उन्हें जो कुछ ऊँच-नीच देखना पड़ता है वह झीने वातावरण के रूप में कर्म-संचय के समान उनके साथ लगा चलता है। यही वातावरण उनके व्यक्तित्व को बनाता है जिसको एक ही दीठ में समझ लेना कठिन होता है। उनके जीवन के विभिन्न पक्ष विभिन्न परिस्थितियों में खुलते हैं। उनके भविष्य-विकाश में उनके अतीत का भी हाथ रहता है। अतएव शब्दों को भली-भाँति समझने के लिए उनकी जीवन कथा जानना आवश्यक हो जाता है।

यहाँ मैं गढ़वाली बोली के एक शब्द की जीवन-गाथा सुनाना चाहता हूँ। यह शब्द है 'मेलणों'। कहीं-कहीं इसका उच्चारण 'मेल्नों' भी होता है। इसका खड़ी बोली का रूप होगा 'मेलना'। यह क्रियापद है। गढ़वाली में इसका अर्थ होता है खोलना, सब प्रकार का खोलना नहीं, जैसे द्वार खोलना 'मेलना' नहीं है, केवल बँधे हुये पशुओं को खोलना, पोटली–गठरी इत्यादि खोलना, और दूसरे गाँठ खोलना।

उच्चारण, शब्दावली और रूप रचना की दृष्टि से गढ़वाली राजस्थानी की बहिन है। यह शब्द भी राजस्थानी में मिलता है। राजस्थानी में इसके उच्चारण में कुछ अंतर है। वहाँ (ल्) या तो तस्वर (ल) है या स्वर (अ) और (ल्) के बीच में (ह्) आ जाता है।—मेलह, मेल्हइ। मुझे बताया गया है कि वहाँ बोलचाल में इसका अर्थ प्रयोग 'छोड़ना'—डालना के अर्थ में होता है। इसका राजस्थानी साहित्य में भी प्रचुर प्रयोग मिलता है। 'ढोला मारुवणी कथा में इसका प्रयोग तीन अर्थों में हुआ है—(१) छोड़ना

(२) डालना-रखना और (३) छोड़ना-अलग करना (४) छोड़ना-मारना या देना (५) छोड़ना—भेजना।

(१) छोड़ना—अवही मेली हेकली, करले काइ कलाप् (ऊंटनी को मैंने अकेली छोड़ा है, वह विलाप कर रही है (३२३) मे चाल्या सूती मेलि' सोती हुई छोड़ कर चले-६१०। 'तिण रित मेलै मालवणि प्री परदेश म जाय'-२६६। उस ऋतु में मालवणी को छोड़ कर हे प्रिय, परदेश मत जाओ। 'काली कंठलि वादलो वरसि ज मेल्हइ वाउ-२६७। काली कंठुली वाली बदली बरस कर हवा को छोड़ रही है।

'सेज रमंता मारवणी खिणा मेल्हणी म जाइ'-५६१ सेज पर रमते हुए पति के द्वारा मारवणी एक क्षण भी छोड़ी नहीं जाती। 'गया धुंकती मेल्ह' १६३ मुझे धधकती हुई छोड़ कर चला गया। 'तिण रुति साहिव वल्लहा, को मंदिर मेल्हंत-२४७'। उस ऋतु में हे स्वामी, भला कोई घर छोड़ता है ? सुवइनिचंती मारुइ ढोला मेल्हं अंग' – ६०८। मारवणी अंगों को ढोला छोड़ कर निश्चित होकर सो जाती है। 'कुरजी वच्चा मेल्हिकइ दूरि थवां पालेत'-२०२। अपने बच्चों को छोड़ कर भी दूर रहती हुई पालती है।

(२) डालना-रखना – 'किस गुण मेल्ही वीण'–५६६। क्यों वीणा रख दी ? 'तिण हँसि मेल्ही वीण'-५७०। उसने हंस कर वीणा रख दी। 'जिण रुति वग पावस लियइ धरणि न मेल्हइ पाइ'–जिस ऋतु में वर्षा के कारण बगुले भी पृथ्वी पर पांव नहीं रखते।

(३) छोड़ना-अलग करना—'दूरा हुंता तट पलइ जऊ न मेल्ह हियाह'-२०३। जो हृदय से अलग न कर दिये जायें तो दूर होने पर भी [बच्चे] पलते हैं। 'मनि हूं खिणहिता मेल्हियि चकवी दिणियर जेन '–७२ उनको एक क्षण के लिए भी मन से अलग नहीं करना चाहिए जैसे चकवी सूर्य को।

(४) छोड़ना- (ध्वनि के सम्बन्ध में) मारना या देना —'मारू दीठा सास तिण मोटी मेल्हइ धाह–६०६ मारवणी को बिना सांस का देखकर बड़ी धाड़ मारती (रोती) है। 'चौथै प्रहरे रैण कै कूकड़ मेल्ही राति'– रात के चौथे पहर में मुर्गे ने बांग दी।

(५) छोड़ना-भेजना —दूती मेल्हइ नारि–३३१। वह स्त्री दूती भेजती है। राठौड़ राजा पृथ्वीराज की 'कृष्ण-रुक्मणी री बेलि' में भी इस

क्रिया का प्रयोग भेजने के अर्थ में हुआ है। 'राज लगं मेल्हियो रुकमणी लगा-बारइण सहि साहि' ।–५६ राजा (आप कृष्ण) के लिए [यह पत्र] रुकमणी ने भेजा है। इसमें सब समाचार है।

आधुनिक राजस्थानी रचनाओं में भी इस क्रिया का प्रयोग मिलता है। शिवसिंह ने अपने 'सरोज' में विजयसिंह नामक एक कवि का उल्लेख मिलता है। जिन्हें उन्होंने जयपुर का राजा बताया है। उनकी कविता के एक उदाहरण में वह क्रिया छोड़ने के अर्थ में प्रयुक्त हुई है।

याद यते दिन आवे, आपा बोला हेल।
मागे तीनों भूपती, माल-खजाना मेल।।

सरोज पृ० ४६२।

परन्तु यह शब्द केवल राजस्थानी की विशेषता नहीं है। और जहाँ-जहाँ यह मिले वहाँ-वहाँ राजस्थानी का प्रभाव नहीं समझना चाहिए।

मैथिल-कोकिल विद्यापति की पदावली में भी डालने के अर्थ में इस क्रिया का प्रयोग हुआ है—'कत आके दैत्य मारि मुँह मेलल' ।—पदावली (बेनीपुरी) पृ०-६। 'अनंग मंगल मेलि। कामिनि करथु केलि ।। (वही–२४६) देवी ने कितने ही दैत्यों को मारकर मुँह में डाल लिया। कामदेव के अर्थ मंगल द्रव्य डालकर कामनियाँ क्रीड़ा करती हैं।

सिक्खों के 'आदिग्रंथ' में रामानन्द का एक पद संगृहीत है जिसमें 'त्यागने' के अर्थ में इस क्रिया पद का प्रयोग हुआ है। 'वेद सुमृत सब मेल्हे जोई' ।—वेद और स्मृतियों का अवलोकन कर उन सबको छोड़ दिया। कबीर ग्रंथावली में भी यह क्रिया मिलती है। उसमें इसका अर्थ छोड़ना तथा छोड़ना-डालना है।—'सबहीं ऊभा मेल्हि गया-राव रंक सुलितान'–पृ० २१५। 'बाती मेल्यूं जीव'। पृ० ९२३ जीव रूप बत्ती डाली।

'दरिया पार हिंडोलना मेल्हा कंतम चाइ' ।–पृ० ८१—१ स्वामी ने दरिया पार (आध्यात्मिक आनन्द के लोक में) हिंडोला डाला। इसी अर्थ में संयुक्त क्रिया के रूप में भी इसका प्रयोग कबीर ग्रंथावली में हुआ है—'तीरथ व्रत सब बेलड़ी सब जग मेल्ह्या छाइ' ।–पृ० ४४, ६। तीरथ व्रत (माया की) बेल है, इसने संसार को छा डाला है।

किंतु कबीर ग्रंथावली के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि उसकी मूल प्रति राजस्थानी व्यक्ति के द्वारा लिखी गई है। और कबीर बानी के कबीर-ग्रंथावली के ढंग के संग्रह अधिकतर राजस्थान में ही मिलते हैं।

इसलिए उस पर भी राजस्थानी प्रभाव माना जा सकता है। परन्तु कबीर ग्रंथावली में नहीं, जायसी, सूर और तुलसी की रचनाओं में भी यह क्रिया मिलती है, जिनके ऊपर राजस्थानी का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। जायसी की रचनाओं में यह शब्द 'डालना' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

कुंवहि खांड़ बहु मेलि। पृ० ८१—१०।
जलहुँत काढ़ि अगिनि मँह मेला। पृ० ६३, २।
अब अस कहाँ द्वार सिर मेलौं। पृ० ६५, ६।
रकत पराये सेंदुर मेलहु। पृ० १०६, १३।
गुरक वचन स्रवन दुइ मेला। पृ० १०६, २०।
जैसे चोर सेंध सिर मेलहिं। पृ० १११, १। इत्यादि।

सूर की रचना में भी डालना के अर्थ में उसका प्रयोग हुआ है—

साखा पत्र भये जल मेलत, फूलत फलत न लागी बार सू०, पृ० ५०५-१७३।

डालना पहनना के अर्थ में भी सूर की रचना में यह मिलता है—

उर मेले नंदराइ के गोप सखन मिलि हार। पृ० ४२७, ६४५।

तुलसी की रचना में भी यही बात है—

छोड़ना—डालना—तुरत विभीषन पाछे मेला।
सनमुख राम सहेउ सो सेला॥
[मानस, कांड ६ दो० ९४ अर्धाली २]

मनि मुख डारि मलि कपि देहीं—वही ६—११७—७।
सुता बोलि मेली मुनि चरना—वही १—६६—८।

डालना-पहिनाना—मेली कंठ सुमन कै माला—वही ४—८—७।

इस प्रकार हमने देखा कि मैथिली, पूरबी, अवधी, पछाहीं-अवधी, ब्रज और साधुओं की सर्वदेशी भाषा में तथा इन सबके प्रसिद्ध कवियों की रचनाओं में यह क्रियापद मिलता है। जान यह पड़ता है कि राजस्थानी ने, रामानन्द और कबीर की सर्वदेशी भाषा ने विद्यापति की मैथिली ने जायसी की शुद्ध-पूर्वी-अवधी ने, तुलसी की पछाहीं-अवधी ने और सूरदास की ब्रज ने इस क्रियापद को किसी एक ही मूल-स्रोत से पाया है, और वह है अपभ्रंश। जो तुलसीदास पर मराठी, बंगला, राजस्थानी आदि का प्रभाव समझा जाता है, वह सच में अपभ्रंश की देन है जिसका प्रभाव कम से कम उत्तर भारत की उन सब भाषाओं पर था जो आज हिंदीक्षेत्र के अंतर्गत आती हैं। अपभ्रंश में भी यह

क्रिया मिल्लइ, मिल्लहि के रूप में विद्यमान है। अपने उपदेश-रसायन-सारे में जिनदत्त सूरि (लगभग १२०० वि०) ने इसका प्रयोग किया है—

जो गीयत्थु सु करइ मच्छरु।
मुनि जीवतु त मिल्लइ मच्छरु॥

(यो गीतार्थः स करोति न मत्सरं।
सोऽपि जीवन् न मुंचति मत्सरम्॥)

घर वावारु सठ्ठा जिव मिल्लहिं।
जिव न कसाइहि ते पिच्छिज्जहिं॥

(गृह व्यापार यथा मुञ्चन्ति।
यथा न कसायैस्ते पीडयन्ते॥)

इन उदाहरणों में छोड़ने के अर्थ में इस क्रिया का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार जिनदत्त जैन कवि थे। गुजरात में संभवतः उन्होंने अपने काव्य की रचना की। इसी प्रकार धुर-पूरब की ओर विक्रम-शिला आदि स्थानों में जिन वज्रयानी सिद्धों ने अपने अपभ्रंश (या उसके और आगे विकसित-अवहट्ट) काव्य की रचना की उनकी रचनाओं में भी यह क्रिया मिलती सरोज वज्र या सरहपा की रचना में दो रूपों में यह आई है--'मेलि' और 'मेल्ह' दोनों विधि के रूप हैं--

नौगामी नौका टागुअ गुणे। मेलि मेल सहजें जाउ ण आणें॥३८।३।
माँझी जैसे नौका को चलाता है और रस्सी से खींचता भी है वैसी यह सहज नौका नहीं है। सहजानंद से युक्त होकर इस बाह्य-नौका को छोड़ो और अन्यत्र मत जाओ। अर्थात् सहजानंद में आवागमन नहीं है। फिर खींचा नहीं जाता।

एहु मन मेल्लहु पवन तुरंग सु चंचल।
सहज सहाव राव राउ होइ निश्चल॥

इस मन को और तुरंग के समान चंचल पवन को त्याग दो। (जो ऐसा करता है) वह निश्चल होकर सहजानंद स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है।

'सहजाम्नाय पंजिका' नामक टीका में पहले का अर्थ 'परित्याग कुरु' और दूसरे का 'त्याज्यं कुरु' दिया हुआ है। अर्थात् दोनों का अर्थ हुआ "छोड़ो।"

सिद्ध भुसुक ने भी 'मेल्लि' का प्रयोग टीका के शब्दों में 'विहाय' अर्थात छोड़कर किया है।

काहे रि घिनि मेलि अच्छतु कीस।
वेढिल हाक पड़अ चौदीस ॥१०।१।

कण्हपा ने 'मेलई' के रूप में परित्यजति के अर्थ इस क्रिया का प्रयोग किया है।

केहे रेहो तो होरे विरुग्रा बोलई।
विदुजण रो अतोरें कंठन मेलई ॥ च० १८।४।

कोई-कोई (तुम्हारे शक्ति डोम्बी के) विरुद्ध बोलते हैं किंतु जो ज्ञानी लोग हैं वे तुझे कंठ से नहीं छोड़ते।

और कंबलाम्बर पाद (कमलीपा) ने 'मेलिल' के रूप में 'मुक्ती कृत्य' के अर्थ में इसका प्रयोग किया है।

खुंटि उपांडि मेलिलि काच्छि।
वाहतु कामलि सद्गुरु पुच्छि॥ चर्या ८।३।

अर्थात् सब सामाजिक आदि बंधनों से मुक्त हो गये। और सद्गुरु की अनुमति से कम्बल, योगीश्वर का बाना धारण कर लिया।

सरल और भूसुक पूरब के, जण्हपा कर्णाटक् के और कबलाम्बर उड़ीसा के रहनेवाले कहे जाते हैं। सबने विक्रम-शिला के वज्रयान तांत्रिक प्रभाव को ग्रहण किया। ये धर्मपाल (७६९-८०९) या देवपाल के समकालीन समझे जाते हैं। एक हजार विक्रम के आस-पास इनका समय माना जा सकता है।

वज्रयानी सिद्धों के उत्तराधिकारी नाथों की रचना में भी इस शब्द का प्रयोग मिलता है। गोरख की बानी में वह मिलता है। उसमें एक जगह मारने के अर्थ में उसका प्रयोग हुआ है--

ले मुदिगर की सिर मैं मेलें—सबदी ७५।

परंतु इस क्रिया का मूल अपभ्रंश से भी पीछे स्वयं संस्कृत में मिलता है। और वह है मिल धातु का रूप मेलयति जिसका अर्थ होता है मिलाना। मिलाना जिसका अर्थ हो उस शब्द से छोड़ना, डालना, अलग करना, भेजना, मारना, खोलना अर्थ निकलें, यह पहले-पहल आश्चर्यजनक जान पड़ेगा। किंतु इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं। विश्वश्रवा के रावण हिरण्यकश्यप के प्रह्लाद शब्दों में भी होते हैं। शब्दों की माया विचित्र होती है। नवीन साहचर्य से वे क्या से क्या अर्थ देने लगते हैं। संस्कृत भद्र (श्रेष्ठ, साधु) से हिंदी भद्दा (कुडौल) और संस्कृत साहस (डकैती इत्यादि) से हिंदी

साहस (हियाव) इसके प्रसिद्ध उदाहरण हैं।* यही दशा इस क्रिया की भी हुई जान पड़ती है। मेरा अनुमान है कि मेलयति से निकले इस क्रिया पद का प्रयोग पहले किसी ऐसी क्रिया के संबंध में हुआ जिसमें छोड़ने, डालने, का व्यापार भी साथ में होता हो। जैसे घोल बनाने के लिए रासायनिक कणों को द्रव-प्रदार्थ में डालने, दाल में नमक छोड़ने, शर्बत बनाने में पानी में चीनी डालने इत्यादि में होता है। संस्कृत 'मेलयति' और अपभ्रंश 'मिल्लई' के बीच पहले इसी प्रकार का प्रयोग हुआ होगा, यह अनुमान होता है।

अब इस शब्द की जीवन-यात्रा को हम थोड़े में यों कह सकते हैं। इस क्रियापद का मूल अर्थ है मिलाना। मिलाने के लिए छोड़ना आवश्यक हुआ। अनुमान से एक परम्परा में मेलयति से निकले हुए शब्द का प्रयोग रूढ़ हो गया केवल उस मिलाने तक जिसमें छोड़ने का काम किया जाता है। और फिर केवल छोड़ने—डालने का अर्थ देने लगा। आगे चलकर इसमें कई अर्थभेद हुए। चलते समय पाँव पृथ्वी पर डाले जाते हैं, इसलिए उसका अर्थ हुआ 'चलना।' जैसे धनुष से बाण छोड़े जाते हैं वैसे ही लक्षणा से दूत छोड़ना भी कहा जा सकता है। इससे 'मेल्हइ' हो गया भेजना। भूलने में व्यक्ति हृदय से छोड़ दिया जाता है, इसलिए उसका अर्थ हुआ भूलना। माला पहनाने में डालने का काम करना पड़ता है। माला गले में डाली जाती है, इसलिए मेले का अर्थ हो गया पहनना या पहनाना। किन्तु सब प्रकार का पहनना पहनाना नहीं। माला पहनाने में डालने का काम करना पड़ता है। इसी से हिंदी में माला पहिनाने के स्थान पर माला डालना या दुपट्टा डालना भी कहते हैं। इसी तरह माला मेलना भी प्रयोग हुआ। झूला भी माला के समान अंतिम रूप में पेड़ की एक शाखा पर डाला जाया करता था। वैसे ही जैसे गले में माला डाली जाती है। अब झूला डालने के कई तरीके हो गये हैं, पर है फिर भी वह झूला डालना ही। किसी पर आघात करने में भी डालने

*—साहस का संस्कृत में भी अच्छा अर्थ होता है। सहसा होनेवाली घटना साहस कहलाती है। डकैती आदि ऐसी ही घटनाएँ हैं। किंतु तत्त्व-ज्ञान या परमानुभूति भी सहसा होती है। शैव-सिद्धांत में उसके लिए कोई प्रारंभिक तैयारी आवश्यक नहीं समझी जाती। गुरु अथवा भगवान की दयादृष्टि से वह अचानक किसी समय आ उपस्थित होती है। इसलिए शैव-मत में परमानुभूति 'साहस' कही जाती है। [लेखक]

की क्रिया की जाती है, इसलिए मारने के अर्थ में भी उसका प्रयोग मिलता है—'ले मुदिगर को सिर में मेलं।"

इस प्रकार संस्कृत में इसका अर्थ था मिलाना। मिलाने के लिए आवश्यक हुआ छोड़ना—डालना इसलिए इसका अर्थ संकुचित हो गया केवल उस मिलाने तक जिसमें 'छोड़ना' डालना आवश्यक होता है और फिर उसका अर्थ ही हो गया—छोड़ना, डालना। यहां तक है अनुमान प्रमाण। आगे है प्रत्यक्ष प्रमाण। अपभ्रंश में जो उदाहरण मिलता है, उसका अर्थ है छोड़ना। -राजस्थानी में भी इसका यह अर्थ है। छोड़ना क्रिया में भेजने का भाव भी विद्यमान रहता है जैसे बाण छोड़ना। इसलिए हमें उसका राजस्थानी में भेजना के अर्थ में भी प्रयोग मिलता है। कोई चीज जब डाली जाती है तो पृथ्वी पर पड़ती है, गिरती है। इस डालने की क्रिया से रखने का अर्थ निकला पांव मेल्हा। परन्तु प्रधान अर्थ इसका छोड़ना ही रहा। बंधन में आये हुए प्राणी का मुक्तीकरण भी छोड़ना ही हुआ अतः गढ़वाली में बँधे हुये पशु को मुक्त करना 'मेल्णों' हो गया। किंतु इस मुक्त करने में वास्तविक कार्य जो किया जाता है वह है जेवरी की घुंडी खोलना। अतएव मेलना का अर्थ हो गया जेवरी खोलना। इसी से गांठ खोलना भी उसका अर्थ हो गया। फिर जेवरी की घुंडी नहीं, वरन् हर प्रकार की गाँठ खोलना 'मेल्णो' हो गया। इस प्रकार अब गढ़वाली भाषा में 'मेल्णो' का अर्थ हो गया सब प्रकार के बंधनों को खोलना जिसमें घुंडी या गाँठ खोलनी पड़े।

हिंदी काव्य की निरंजन-धारा

[आल इंडिया ओरिएंटल कान्फरेंस (अखिल भारतीय प्राच्य सम्मेलन) के दसवें (तिरुपति) अधिवेशन में २२ मार्च १९४० ई० को हिंदी विभाग के अध्यक्ष के पद से दिया गया भाषण ।]

आजकल तो हम हिंदी को राष्ट्र-भाषा बनाने के संबंध में केवल जबानी जमा-खर्च कर रहे हैं । किंतु प्राचीन काल में वह सचमुच किसी सीमा तक अंतर्प्रांतीय विचार-विनिमय की भाषा हो गई थी । श्रीयुत दिनेशचंद्र सेन* के अनुसार, पूर्व मुगलों के शासन-काल तक "हिंदी पहले ही समस्त भारत की सामान्य भाषा (लिंगुआ फ्रैंका) हो चली थी ।" के० एम्० झावेरी† के शब्दों में मध्ययुगीन गुजरात में हिंदी "सु-संस्कृतों और विद्वानों की मान्य भाषा थी ।" उन दिनों वहाँ के कवियों में हिंदी में कविता लिखने की प्रथा सी चल पड़ी थी । यहाँ तक कि १६ वीं शताब्दी के कवि परमानंद ने भी, जिन्होंने अपने गुरु की आज्ञा से गुजराती में उत्तम श्रेणी के साहित्य-निर्माण का प्रयत्न किया, अपना साहित्यिक जीवन हिंदी-पद्य-रचना से ही आरंभ किया था और अपने पुत्र वल्लभ को भी गुजराती में लिखते समय हिंदी की आत्मा का अनुगमन करने का आदेश दिया था ।‡ महाराष्ट्र में चक्रधर (जिनका आविर्भाव काल १३ वीं शती बतलाया जाता है), ज्ञानदेव और नामदेव, जो १४ वीं शती में हुए थे, तथा इनके बाद एकनाथ और तुकाराम सरीखे ऊँची पहुँच के संत अपने उपास्य देव के प्रति अपने हृदय के सच्चे भावों को यदा-कदा हिंदी में भी व्यक्त करना उचित समझते थे ।+ १६३७ में विद्यमान बीजापुर के इब्राहीम आदिलशाह तक ने संगीत पर अपनी 'नव रस'

---

*—सेन-हिस्टरी आव् दि बँगाली लैंग्वेज ऐंड लिटरेचर, पृ० ६०० ।

†—के० एम्० झावेरी—माइल्स्टोन्स आव् गुजराती लिटरेचर, पृ० ६६ ।

‡—के० एम्० झावेरी—माइल्स्टोन्स आव् गुजराती लिटरेचर, पृ० १२५ ।

+—माधव राव— कोशोत्सव स्मारक संग्रह, ना० प्र० सभा, पृ० ९२-९८ ।

नामक रचना हिंदी में लिखी। गोलकुंडा के मुहम्मद कुली कुतुबशाह (राज्य-काल १५११ ई० -१५५० ई०) ने, जो दक्खनी हिंदुस्तानी का प्रथम कवि माना जाता है, अपनी कुछ कविताओं में हिंदी के शुद्ध रूप की रक्षा की है। किंतु ब्रजबुली, जो श्रीयुत दिनेशचंद्र सेन के मत में "बँगला का पूर्ण हिंदी रूप" है और जिसमें अनेक कवियों ने बहुत सुंदर, सरस पद-रचना की है, हिंदी की आत्मा का सर्वोत्तम अभिनंदन है। इस मिश्री तुल्य मिश्रित भाषा में लिखी हुई कवि गोविंददास की कविताएँ किसी भी साहित्य का गौरव बढ़ा सकती हैं।

किंतु यदि हिंदी का स्वयं अपना उन्नत साहित्य न होता और उसके पास महत्वपूर्ण संदेश देने को न होता तो अहिंदी प्रदेशों में उसके प्रति इतना अनुराग न होता। हिंदी के प्राचीन साहित्य का महत्व प्रायः सब स्वीकार करते हैं। सूर और तुलसी पर केवल हिंदी को ही नहीं सारे भारत को गर्व है। किंतु खेद है कि हमारा प्राचीन साहित्य अभी पूर्ण रूप से प्रकाश में आया नहीं है। हम वर्तमान में इतने व्यस्त रहते हैं कि अतीत के साथ केवल मौलिक सहानुभूति दिखाकर ही रह जाते हैं। अवश्य ही नये उठते हुए साहित्य को प्रोत्साहन देने की बड़ी आवश्यकता है। किंतु इस बात की ओर हमारा बहुत कम ध्यान जाता है कि हिंदी के प्राचीन साहित्यकारों को, जिन्होंने बहुमूल्य निज-स्व का दान कर अतीत में वर्तमान की गहरी नींव डाली, जगत के सम्मुख ला रखना भी उतना ही आवश्यक है। इसके बिना हिंदी के प्राचीन गौरव की तथ्यानुगत अनुभूति हो नहीं सकती। नागरी प्रचारिणी सभा की खोजों से स्पष्ट है कि सामग्री का अभाव नहीं है। हमारे साहित्य का अभी बहुत थोड़ा अंश प्रकाश में आ पाया है, अधिकांश अभी तक हस्तलिखित ग्रंथों के रूप में ही पड़ा हुआ है, और यदि उसकी रक्षा शीघ्र न की गई तो बहुत सी अमूल्य सामग्री नष्ट हो जायगी। कुछ तो नष्ट हो भी चुकी है। उदाहरणस्वरूप यहाँ मैं केवल ऐसे दो ग्रंथों का उल्लेख करूँगा—एक तो कालिदास त्रिवेदी का 'हजारा' नामक हिंदी कवियों की कृतियों का संग्रह और दूसरा बेनीमाधवदास का 'गुसाईं चरित' नामक तुलसीदासजी का जीवनचरित्र। स्वयं शिवसिंह सेंगर के 'सरोज' से पता चलता है कि उक्त दोनों ग्रंथ उनके समय में विद्यमान थे। पर अब वे हमारे लिए 'सरोज' में लिखे नाम भर रह गये हैं। स्वयं 'सरोज' इस बात का साक्षी है कि शिवसिंह सेंगर का पुस्तकालय बहुत बड़ा रहा होगा। यह पुस्तकालय काँथा, जिला उन्नाव, संयुक्त प्रांत में है। आज उसकी बुरी दशा सुनने में आती है। वह नष्ट होता जा रहा है और डर है कि यही

दशा एक दिन असंगठित संस्थाओं तथा विभिन्न व्यक्तियों के पास पड़ी हुई हस्तलिखित पुस्तकों की भी हो जायगी।

इस समय की दुहरी आवश्यकता है। एक तो हस्तलिखित पुस्तकों का ऐसे केन्द्रों में संग्रह करना, जहाँ नाश के दूतों से उनकी रक्षा हो सके और खोजियों को वे आसानी से सुलभ हो सकें और दूसरे, इस प्रकार प्राप्त संपूर्ण सामग्री का यथाशीघ्र प्रकाशन।

कुछ पुस्तकालय विद्यमान हैं, जिनमें हिंदी की हस्तलिखित पुस्तकों का संग्रह है। इन संस्थाओं के संग्रहालय भविष्य के बड़े-बड़े पुस्तकालयों के लिए आधार बनाये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में यहाँ कुछ पुस्तकालयों का उल्लेख किया जा सकता है, जैसे रायल एशियाटिक सोसायटी का पुस्तकालय, नागरी-प्रचारिणी सभा का आर्य-भाषा-पुस्तकालय और हिंदी-साहित्य-सम्मेलन का संग्रहालय।

राजस्थान, मध्यभारत तथा अन्य प्रदेशों के अधिकांश रजवाड़ों तथा जैन उपाश्रयों और भंडारों के पास अच्छे-अच्छे हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह हैं। ऐसे सब पुस्तकालयों के अधिष्ठाता यदि अपने-अपने पुस्तकालयों की सूची प्रकाशित करें तथा आधुनिक ढंग से अपने पुस्तकालयों का संचालन करें तो खोज के काम में बड़ी सहायता हो।

दूसरा इससे कम नहीं, शायद इससे अधिक महत्वपूर्ण काम है, जैसे-जैसे पुरातन ग्रंथ मिलते जायँ, वैसे-वैसे उनको छपवाना। इस दिशा में पूरी शक्ति लगाकर काम करने की आवश्यकता है। अन्य साधनों के साथ-साथ इसके लिए एक बहुत उत्तम साधन होगा। 'बिब्लियोथिक का इंडिका' के ढंग पर एक स्थूलकाय, सुसंपादित पत्रिका को नियमित रूप से चलाना, जिसके द्वारा केवल प्राचीन हिन्दी साहित्य का प्रकाशन हो। नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला कुछ दिनों इसी ढंग पर चली।

ये कार्य बहुत बड़े हैं। इनके लिए विविध साधन-संपन्नता की आवश्यकता है। किंतु जहाँ चाह होती है, वहाँ राह भी निकल ही आती है। इसलिए यदि हिंदी की सार्वजनिक संस्थाएँ पूर्ण मनोयोग से इन कामों को हाथ में ले लें, तो उन्हें पता चलेगा कि मानव हृदय सदैव उत्साह से सत्प्रयत्नों का साथ देता है, और सदुद्देश्य की सफलता के लिए पूरी सहायता देने में कभी पिछड़ता नहीं।

भाषा तथा साहित्य दोनों के अध्ययन को अग्रगति देने के लिए ये कार्य

आवश्यक है। प्राचीन समय में ध्वनिग्राहक यंत्रों के अभाव के कारण उस समय की बोली का तो हमें ठीक ज्ञान हो नहीं सकता। फिर भी इन कार्यों के हो जाने से ध्वनियों की गति-विधि, अर्थ का उनके साथ साहचर्य तथा अन्य समान विषयों के संबंध का पूरा हिंदी क्षेत्र भाषा-शास्त्री के पर्यवेक्षण के लिए खुल जायगा और हमें यह पता लग जायगा कि हिंदी की विभिन्न उपभाषाओं का किस प्रकार क्रम-विकास हुआ।

इससे हिंदी साहित्य के उदय से लेकर अब तक विभिन्न भावनाओं से स्पंदमान भारत के हृदय का चलचित्र भी हमारी दृष्टि में आ जायगा, क्योंकि मध्यदेश, जो लगभग आज का हिंदी-भाषी प्रदेश है, देश भर में चलनेवाली अधिकांश सांस्कृतिक प्रगतियों का केन्द्र रहा है। इस प्रकार अपनी संस्कृति को हिंदी साहित्य की देन का भी हमें वास्तविक महत्व जान पड़ जायगा।

हिंदी साहित्य के पूरे इतिवृत्त के निर्माण का कार्य भी इस प्रकार सरल हो जायगा। अभी तो हमें हिंदी साहित्य की प्रधान धाराओं का ही परिचय है। इन धाराओं की सौंदर्य-वृद्धि करनेवाली विभिन्न तरंगों, उपधाराओं तथा व्यत्यस्त धाराओं का, जिनके कारण साहित्य की समस्याएँ कुछ जटिल हो जाती हैं, अभी हमें भली भाँति परिचय नहीं, क्योंकि इस संबंध में प्रकाश डालने वाली समस्त सामग्री अभी प्रकाश में आई नहीं है।

उदाहरण के लिए मैं आपका ध्यान हिंदी साहित्य की एक उपधारा की ओर आकृष्ट करता हूँ, जिसे हिंदी साहित्य की निरंजन-धारा कह सकते हैं। जैसा नाम से ही पता चलता है, निरंजन-धारा भी सिद्ध, नाथ तथा निर्गुण धाराओं की ही भाँति आध्यात्मिक धारा है।

हरिदास, तुरसीदास और सेवादास—इन तीन निरंजनियों की बहुत सी बानियाँ मेरे पास हैं। खेमजी, कान्हड़दास और मोहनदास की भी कुछ कविताएँ संग्रहों में मिलती हैं। इनके अतिरिक्त मनोहरदास, निपट-निरंजन तथा भगवानदास का उल्लेख 'शिवसिंह सरोज' ग्रियर्सन के 'माडर्न वर्नाक्यूलर लिटरेचर' नागरी-प्रचारिणी सभा की खोज-विवरणों तथा 'मिश्रबंधु-विनोद' में मिलता है। पहले तीन व्यक्तियों की विस्तृत बानियों को देखने से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि वे एक ही धारा के अंश हैं। और उपर्युक्त शेष व्यक्तियों की जो कुछ कविताएँ मिलती हैं, उनसे इस धारणा की पुष्टि हो जाती है।

दादूपंथी राघोदास ने नाभादास के 'भक्तमाल' के ढंग पर अपने भक्त-

माल की रचना की, जिसकी समाप्ति वि० सं० १७७०=१७१३ ई० में हुई। इसमें नाभादास के भक्तमाल में छूटे हुए भक्तों का उल्लेख किया गया है। बारह निरंजनी महंतों का कुछ विवरण उसमें दिया हुआ है जिनमें ऊपर-आये हुए हरिदास, तुरसीदास, खेमजी, कान्हड़दास और मोहनदास सम्मिलित हैं। ये सब राजस्थानी हैं।

इनमें समय की दृष्टि से सबसे पहला ग्रंथकार हरिदास जान पड़ता है। राघोदास ने हरिदास को प्रागदास का शिष्य बतलाया है, जिसे छोड़कर बाद को वह गोरखपंथी हो गया। सुंदरदास ने भी—जो प्रागदास का बड़ा सम्मान करते थे और जिन्हें वे व्यक्तिगत रूप से* भली भाँति जानते थे—हरिदास की गणना गोरखनाथ, कंथड़नाथ और कबीर आदि की भाँति बड़े गुरुओं में की है।† इससे यह जान पड़ता है कि संभवतः हरिदास ने प्रागदास से दीक्षा ली थी। सुंदरदास के उल्लेख करने के ढंग से तो ऐसा भी ध्वनित होता है कि हरिदास कदाचित दादू (जिनका जन्म १५४४ ई० में हुआ था) से भी पहले हुए। श्रीयुत जगद्धर शर्मा गुलेरी के कथन की भी इससे पुष्टि होती है, जिनके मतानुसार हरिदास ने १५२० और १५४० ई० के बीच अनेक ग्रन्थों की रचना की। अपने पंथ में हरिदास हरिपुरुष कहे जाते हैं।

श्री गुलेरी के अनुसार इनके ग्रंथों के नाम ये हैं—

(१) अष्टपदी जोग ग्रंथ
(२) ब्रह्मस्तुति
(३) हरिदास ग्रंथमाला
(४) हंसप्रबोध ग्रंथ

---

*—पुरोहित हरिनारायण जी—सुंदरदास-ग्रंथावली, भूमिका पृ० ७८।

†—"कोउक गोरप कूँ गुरु थापत, कोउक दत्त दिगंबर आदू ;
कोउक कंथर कोउक भर्थर, कोई कबीरा के राखत नादू।
कोउ कहै हरदास हमार जु, यूँ करि ठानत बाद विवादू ;
और सुसंत सबै सिर ऊपर, सुंदर के उर है गुर दादू॥"
(पीतांबर जी द्वारा संपादित सुंदर-विलास—१-५)

दूसरे स्थान पर सुंदरदास उनका उल्लेख असत् से आध्यात्मिक युद्ध करने में लगे हुए योद्धा के रूप में करते हैं—

"अंगद भुवन परस हरदास ज्ञान गह्यो हथियार रे।"
(पीतांबर जी द्वारा संपादित सुंदर-विलास, पृ० ७५०)

(५) निरपखमूल ग्रंथ
(६) राजगुंड
(७) पूजा जोग ग्रंथ
(८) समाधि जोग ग्रंथ और
(९) संग्राम जोग ग्रंथ

मेरे संग्रह में हरिदास की साखी और पद हैं। हरिदास डीडवाना में रहते थे। राघोदास ने इनकी बड़ी प्रशंसा की है। कहा है—हरिदास निराश, इच्छाहीन, तथा निरंतर परमात्मा में लीन रहनेवाले थे। परमात्मा को इन्होंने अपने मन, वचन और कर्म से प्रसन्न कर लिया था। किंतु यह कुछ क्रोधी स्वभाव के भी जान पड़ते हैं। स्वयं राघो ने इन्हें क्रोध में रुद्र—'हर ज्यूँ कहर'—कहा है। टीका में इनके पीपली, नागोर, अजमेर, टोडा और आमेर जाने का भी उल्लेख है और इनके चमत्कारों का भी वर्णन है।

गोरख तथा कबीर की वाणियों से यह विशेष प्रभावित हुए थे। इन्होंने इन दोनों की वंदना की है। गोरख को तो यह अपना गुरु मानते थे।

इनकी रचना बड़ी समर्थ होती थी। इन्होंने सिद्धों तथा जैनों की तीखी आलोचना की है। परमात्मा का इन्होंने नाथ और निरंजन दोनो नामों से गुणगान किया है।

तुरसीदास* ने बड़ी विस्तृत रचना की है। मेरे संग्रह में आई हुई इनकी विपुल वाणियों का विस्तार इस प्रकार है—४२०२ साखी, ४६१ पद, ४ छोटी छोटी और रचनाएँ और थोड़े से श्लोक तथा शब्द हैं। चार छोटे ग्रंथ ये हैं—

(१) ग्रंथ चौअक्षरी
(२) करणीसारजोग ग्रंथ
(३) साध सुलच्छिन ग्रंथ और
(४) ग्रंथतत्त्व गुण भेद

तुरसीदास बड़े विद्वान् थे। इन्होंने अपनी साखियों के विभिन्न प्रकरणों में ज्ञान, भक्ति और योग का विस्तृत तथा सुगठित वर्णन किया है। ये निरंजन पंथ के दार्शनिक सिद्धांतों के प्रतिपादक, आध्यात्मिक जिज्ञासु तथा रहस्यवादी उपासक थे। निरंजन-पंथ के लिये तुरसीदास ने वही काम किया जो दादू-पंथ के लिए सुन्दरदास ने। राघोदास ने इनकी वाणियों की प्रशंसा उचित ही की है—"तुरसी जू वाणी नीकी ल्याए हैं।"

---

*—तुरसीदास के विस्तृत विवेचन के लिए देखिये। डा० भगीरथ मिश्र कृत "संत तुरसीदास निरंजनी।"

यह भी संभव हो सकता है कि राघो का तात्पर्य यहाँ रचनाओं से न होकर तुरसी की आवाज से ही हो । 'ल्याए हैं' क्रिया कुछ इसी ओर संकेत करती जान पड़ती है।

राघो के अनुसार तुरसी को सत्यज्ञान की प्राप्ति हो गई थी और अन्य सब वस्तुओं* से उनका मन हट गया था। राघो ही के अनुसार तुरसी के अखाड़े में करणी की शोभा दिखाई देती है।† तुरसी शेरपुर के निवासी थे।

नागरीप्रचारिणी सभा की खोज में तुरसीदास की वाणी की एक हस्त-लिखित प्रति का उल्लेख हुआ है जिसमें 'इतिहास समुच्चय' की प्रतिलिपि भी सम्मिलित है। 'इतिहास समुच्चय' के अन्त में लिखा है कि उसकी प्रतिलिपि वि० सं० १७४५ (१६८८ ई०) में ऊधोदास के शिष्य लालदास के शिष्य किसी तुरसीदास ने की थी।‡ यदि यह प्रति तुरसी ही के हाथ की लिखी है और ऐसी कोई बात है नहीं जिससे उसका तुरसी का लिखा होना अप्रमाणित हो, तो हमें तुरसी का समय मिल जाता है। राघोदास ने इनका उल्लेख वर्त-मान काल की क्रिया के रूप में किया है। और जान पड़ता है कि राघोदास के भक्तमाल के लिखे जाने के समय तक वे काफी बूढ़े हो चुके थे, क्योंकि उस समय तक वे अपने आध्यात्मिक ज्ञान के कारण प्रसिद्ध हो गये थे। इससे भी विदित हो जाता है कि उनका संवत् १७४५ वि० में महाभारत के एक अंश की प्रतिलिपि करना असम्भव नहीं। इस प्रकार ये तुरसी, प्रसिद्ध महात्मा तुलसीदास से छोटे, किन्तु समसामयिक ठहरते हैं।

मोहनदास, कान्हड़ और खेमजी भी बड़े अच्छे कवि थे और अध्यात्म-मार्ग में उनकी बड़ी पहुँच थी। तीनों महंत थे— मोहनदास देवपुरा के, कान्हड़ चाटसू के और खेमराज शिवहड़ी के।

---

*—"तुरसी पायो तत्त ग्यान सों भयो उदासा"—१४३ ।
"तुरसीदास पायो तत्त नीकी बनि आई है"—१४४ ।

†—"राघो कहैं करणी जित शोभित देषी है दास तुरसी को अपारो"—१५३ ।

‡—इति श्री महाभारथे इतिहास समुच्चये तैंतीसमों अध्याय ।। ३३ ।। इति श्री महाभारथे संपूर्ण समाप्त । संवत् १७४५ वृषे मास कातिक सुदी ७ वार सनीवासरे ।। नगर गंधार सुथाने सुभमस्तु लिखतं स्वामी जी श्री श्री श्री श्री १०८ ऊधोदास जी को शिष्य स्वामी जी श्री श्री श्री श्री १०८ श्री श्री लालदास जी को सिष्य तुलसीदास बाँचे जिसको राम-राम ।

कान्हड़दास इतने बड़े संत थे कि राघोदास इन्हें अंशावतार समझते थे। राघोदास के कथनानुसार कान्हड़दास इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर चुके थे। वे केवल भिक्षा में मिले अन्न ही का भोजन करते थे। यद्यपि उनको बड़ी सिद्धि तथा प्रसिद्धि प्राप्त थी, किन्तु उन्होंने अपने लिए एक मढ़ी तक न बनवाई। वे 'अति भजनीक' थे और राघोदास का कहना है कि उन्होंने अपनी 'संगीत के सब ही निमतारे' थे (पृ० १४०)। ये तीनों – मोहनदास, कान्हड़ और खेमजी—निश्चय ही राघोदास (वि० सं० १७७०=१७१८ से पहले हुए हैं।

सेवादास ने भी विस्तृत रचना की है। मेरे संग्रह में आई हुई उनकी 'बानी' में ३५६१ साखियाँ, ४०२ पद, ३९९ कुंडलियाँ, १० छोटे ग्रंथ, ४८ रेखता, २० कवित्त और ४ सवैये हैं।

वे सीधे हरिदास निरंजनी की परम्परा में हुए। सौभाग्य से इनकी पद्यबद्ध जीवनी भी 'सेवादास परची' के नाम से उपलब्ध है। इनके चेले (अमरदास) के चेले रूपदास ने उसकी विक्रम संवत् १८३२ (ई० सन् १७९५) में वैशाख कृष्ण द्वादशी को रचना की। रूपदास के कथनानुसार सेवादास की मृत्यु ज्येष्ठ कृष्ण अमावस को, संवत् १७६९ वि० में हुई थी। कबीर को इन्होंने अपना सतगुरु माना है। परची उनके चमत्कारों से भरी पड़ी है, जिनका उल्लेख यहाँ आवश्यक नहीं।

भगवानदास निरंजनी ने, जो नागा अर्जुनदास के चेले थे, निम्नलिखित ग्रंथों की रचना की है—

(१) प्रेम पदार्थ
(२) अमृतधारा
(३) भर्तृहरि शतक भाषा
(४) गीता माहात्म्य (१७४० वि०)
(५) कार्तिक माहात्म्य (१७४८ वि०)
(६) जैमिनि अश्वमेध (१७५५ वि०) कोष्ठकों में दिये हुए संवत् स्वयं ग्रन्थों से लिये गये हैं।

निपट निरंजन का जन्म 'शिवसिंह सरोज' के अनुसार संवत् १६५० वि० (१५९३ ई०) में हुआ था। शिवसिंह ने इन्हें तुलसीदास की समता का संत माना है। संभवतः इनकी जन्मतिथि के अनुमान का आधार शिवसिंह के पास के इनके किसी ग्रंथ का रचना काल हो। शिवसिंह के पास इनके 'शांतरस

वेदान्त' और 'निरंजन संग्रह' दो ग्रंथ थे। इनमें से पहला अब तक शिवसिंह के एक वंशधर के पास है, किंतु उसके अंतिम पृष्ठ अब नष्ट हो गये हैं। साहित्य के इतिहासों में निपट निरंजन के नाम से दी गई 'संत-सरसी' नामक रचना यथार्थ में 'शांतरस वेदांत' ही है। यह नाम परिवर्तन की भूल स्वयं 'शिवसिंह सरोज' में ही (कम से कम जिस रूप में वह छपा है) किसी भाँति आ गई थी (सरोज पृ० ४३८)।

मनोहरदास निरंजनी ने 'ज्ञानमंजरी', 'ज्ञान वचनचूर्णिका' तथा 'वेदांत भाषा' की रचना की है। पहली* संवत् १७१६ वि० में बनी थी और अंतिम की रचना भी कदाचित् इसी समय के आस पास हुई।

इन सब कवियों ने अपनी आध्यात्मिक अनुभूति को सरल और स्वाभाविक सौंदर्यमय गीतों में निकास दिया है। ये गीत बड़े ही चित्ताकर्षक हैं। इन कवियों में से कुछ तो, जिनकी विस्तृत वाणियों का अध्ययन मैंने किया है, इस बात का दावा करते हैं कि वे साधना की चरम अवस्था पर पहुँचकर आत्म-दर्शन कर चुके थे। निरंजनियों में भी इस अनुभूति तक पहुँचने का मार्ग निर्गुणियों की ही भाँति उलटा मार्ग या उलटी चाल कहाता है। मन की वहिर्मुखी प्रवृत्तियों को—जो जीव को संसारिक बंधन में डालने का कारण होती हैं—अंतर्मुखी करना उनके अनुसार, परम आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, संचार की प्रक्रिया को प्रतिसंचार में परिणत कर देने पर ही मुक्ति प्राप्त हो सकती है। इसलिए हरिदास ने उलटी नदी बहाने को कहा है† और सत्य के खोजी को उलटा मार्ग पकड़ने का उपदेश दिया है।‡ सेवादास के अनुसार अलख को पहचानने के लिए उलटा गोता लगाना आवश्यक है। ऐसा करने से आत्मा धीरे-धीरे गुण, इंद्रिय, मन और वाणी से अपने आप परे हो जायगी + और तुरसी कहते हैं कि जब साधक उलटा अपने भीतर की ओर लौटता है तभी वह अध्यात्म-मार्ग से परिचित होता है।×

---

*—"संवत सत्रह सै माही वर्ष सोरहे माहि।
वैशाख मासे शुक्ल पक्ष तिथि पूनो है ताहि।।"

†—"उलटी नदी चलाएँगे"—पृ० २५।

‡—"उलटा पंथ सँभालि पंथी सति सवद सतगुरु कहै।"

+—"सहजि-सहजि सब जाहिगा गुण इंद्री मन वाणि।
तूँ उलटा गोता मारि करि अंतरि अलख पिछाणि।"

×—"जब उलटा उर अंतर मांही आवै, तब भल ता मध (?ग) की सुधि पावै।"

निरंजनियों का यह उलटा मार्ग निर्गुणी कबीर के प्रेम और भक्ति से अनप्राणित योग-मार्ग के ही समान है। निर्गुणियों की सारी साधनापद्धति उसमें विद्यमान है। निरंजनियों का उद्देश्य है ईड़ा और पिंगला के मध्यस्थित सुषुम्णा को जागरित कर अनाहत नाद सुनना, निरंजन के दर्शन प्राप्त करना तथा बंकनालि के द्वारा शून्यमंडल में अमृत का पान करना। जो सांच की डोरी* उन्हें परमात्मा से जोड़े रहती है, वह है नामस्मरण। नामस्मरण में प्रेम और योग का समन्वय है। साधक को उसमें अपना सारा अस्तित्व लगा देना होता है। साथ ही त्रिकुटी-अभ्यास का भी विधान ह, जो गोरख-पद्धति तथा गीता की भ्रूमध्य-दृष्टि के सदृश है। इस साधना-पद्धति पर—जिसमें सुरति अर्थात् अंतर्मुखी वृत्ति, मन तथा श्वास-निःश्वास को एक साथ लगाना आवश्यक होता है—निरंजनियों ने बार बार जोर दिया है। इसकी अंतिम अवस्था अजपा जप है, जिसमें श्वास-प्रश्वास के साथ स्वतः सतत नामस्मरण होने लगता है।

निरंजनी कविता में प्रेम-तत्व का महत्व योग-तत्व से किसी भी मात्रा में कम नहीं है। इंद्रियों का दमन नहीं, वरन् शमन आवश्यक है। और शमन में प्रेम-तत्त्व ही से सफलता प्राप्त होती है। इस तत्त्व की अवहेलना करने वाले साधकों को हरिदास ने खूब फटकारा है।† प्रेमातिरेक से विह्वल होकर जब जीव (पत्नी की भांति) अपनी आत्मा को परमात्मा (अपने पति) के चरणों में निःस्वार्थ भाव से अर्पित कर देता है तभी (प्रियतम परमात्मा से) महामिलन होता है।‡ इन सब निरंजनी कवियों ने प्रिय के विरह से

---

*—"सुमिरण डोरी सांच की सतगुरु दई वताय।"—सेवादास।

†—"पांच रापि न पेम पीया दसौं दिसा कूं जांहि।
देपि अवधू अकलि अंधा अजहूं चेतै नांहि॥"

‡—"मैं जन बांध्यो प्रीति सूं············
निकट वसौ न्यारा रहौ एक मंदिर मांहि माधवे।
मैं मिलिहूं कै तन तजौं अव मोहि जीवण नांहि माधवे।
प्राण उधारण तुम मिलौ
अवला भूनि व्याकुल भई, तुम क्यों रहे रिसाइ माधवे॥"—हरिदास।
"सुरति सुहागणि सुंदरी, वरयौ व्रह्म भरतार।
आन दिसा चितवै नहीं, सोधि लियो करतार॥"

—सेवादास।

दुखी प्रिया की भांति अपने हृदय की व्यथा प्रकट की है।* तुरसीदास के अनुसार यही प्रेम-भावना प्रत्येक आध्यात्मिक साधना-पथ की प्राण होनी चाहिए। इसके विद्यमान रहने से प्रत्येक मार्ग सच्चा है, किंतु इसके अभाव में हर एक पथ निस्सार है।†

निरंजनियों ने अपरोक्षानुभूति का वर्णन निर्गुणियों की ही सी भाषा में किया है। सफल साधना-मार्ग के अंत में साधक को अनंत प्रकाश-पुंज की बाढ़ सी आती दिखाई देती है, जो 'जरणा' के द्वारा स्थिरता ग्रहण करने पर शीतल, झिलमिल ज्योति के रूप में स्थिर हो जाती है। इस सहजानुभूति के हो जाने पर सभी बाहरी विरोध मिट जाते हैं। स्वयं यह अनुभूति भी उलटी या स्वविरोधी शब्दावली में ही व्यक्त की जा सकती है। हरिदास के कथनानुसार गुरु शिष्य की अंतर्ज्योति को अनंत सूर्यों के प्रकाश से मिला देता है।‡ सेवादास झिलमिलाती ज्योति का दर्शन त्रिकुटी में करते हैं।+ इन्हीं के शब्दों में× सहजानुभूति बिना घन के चमकने वाली बिजली है, बिना हाथ के बजने वाली वीणा है, बिना बादलों के होने वाली अखंड वर्षा है। और तुरसी के शब्दों में आध्यात्मिक अनुभूति बहरे का ऐसी गुप्त बात सुनना है जिसमें जिह्वा तथा मुँह काम में नहीं आते। वह लँगड़े का ऐसे पेड़ पर चढ़ने

---

*—"अंतरि चोट बिरह की लागी, तप सिप चोट समांणी।"—हरिदास।

"कोउ बूझो रे बाँभना, जोसी कहि कब आवे मेरा राम।
बिरहिन झूरैं दरस कूँ, जिय नाहीं बिश्राम॥
ज्यूँ चात्रिग घन कूँ रटै पीव पीव करे पुकार।
यूँ राम मिलन कूँ बिरहिनी तरफै बारम्बार॥"
—तुरसीदास।

†—"प्रेम भक्ति बिन जप तप ध्यान, रूखे लागै सहत बिग्यान।
तुरसी प्रेम भक्ति उर होय, तब सबही मत सांचे जोय॥"
—तुरसी।

‡—"अनंत सूर निकट नूर जोति-जोति लावै।"

+—"नैना मांहीं राम जी झिलिमिल जोति प्रकास।
त्रिकुटी छाजा बैठि करि को निरखै निज दास॥"

×—"बिन घन चमकै बीजली तहाँ रहे मठ छाय।
हरि सरवर तहाँ पैलिए जहँ बिण कर बाजे बीण॥
बिन बादल बर्षा सदा, तहाँ बारा मास अखंड।"

की भाँति है जिस पर पैर वाले नहीं चढ़ सकते । वह अंधे के प्रकाश को देखने के समान है ।*

उपर्युक्त सभी बातों में निर्गुणियों और निरंजनियों में साम्य है । इसीलिए राघोदास ने निरंजनियों को कबीर के से भाव का बतलाया है । किंतु फिर भी उन्होंने इन्हें कबीर, नानक, दादू, आदि निर्गुणी संतों में नहीं गिनाया है और उनका एक अलग ही संप्रदाय माना है । इसका कारण यही हो सकता है कि निर्गुणियों और निरंजनियों में इतना साम्य होते हुए भी कुछ भेद अवश्य है ।

कबीर ने स्थूल पूजा-विधानों का तथा हिंदुओं की सामाजिक वर्णव्यवस्था का एकदम खंडन किया है । निरंजनियों ने भी मूर्तिपूजा, अवतारवाद तथा कर्मकांड का परमार्थ दृष्टि से विरोध किया है अवश्य, किंतु अपने समान ज्ञान की उच्च अवस्था तक न पहुँच सकने वाले साधारण श्रेणी के व्यक्तियों के लिए इन बातों की आवश्यकता भी उन्होंने समझी है । इसीलिए हरिदास ने अपने चेलों को मंदिरों से वैर अथवा प्रीति रक्खे बिना ही गोविंद की भक्ति करने का आदेश किया है ।† तुरसी मूर्त से अमूर्त की ओर जाने के लिए 'अमूरति' को 'मूरति' में देखना बुरा नहीं समझते‡ और आचार का भी आखिर कुछ महत्त्व समझते हैं ।+ यद्यपि निरंजनी वर्णाश्रम-धर्म को, यदि तुरसी के शब्दों में कहें तो, शरीर का ही धर्म मानते हैं, आत्मा का नहीं; फिर भी ऐसा भी नहीं जान पड़ता कि परंपरा से चली आती हुई वर्णाश्रम-धर्म की इस व्यवस्था से उन्हें वैर है । यद्यपि वे यह अवश्य चाहते हैं कि

---

*—"बहरा गुझि बानी सुनै सुरता सुनै न कोय ।
तुरसी सो बानी अघट मुख बिन उपजै सोय ।।
पग उठि तरवर चढ़ै सपगै चढ़्या न जाय ।
तुरसी जोती जगमगै अन्धे कूँ दरसाय ।।"

†—"नहि देवल स्यूँ वैरता, नहि देवल स्यौं प्रीति ।
किरतम तजि गोविंद भजो, यह साधाँ की रीति ।।"

‡—"मूरति मैं अमूरति बसै अमल आतमाराम ।
तुरसी भरम विसराय कै ताही कौ लै नाम ।।"

+—"जाके आचारहु नहीं, नहि विचार अरु लेस ।
उभै माहिं एक हू नहीं, तौ धृग-धृग ताको वेस ।।"

संसार एक परिवार की भाँति रहे और वर्ण भेद ऊँच-नीच के भेद-भाव का आधार न बनाया जाय ।*

निरंजनी इस प्रकार की प्रवृत्ति के कारण रामानन्द, नामदेव इत्यादि प्राचीन संतों के समकक्ष हो जाते हैं। विठोवा की मूर्ति के सम्मुख घुटने टेक कर नामदेव निर्गुण निराकार परमात्मा के भजन गाया करते थे।† और कहा जाता है कि रामानन्द ने तीर्थों तथा मूर्तियों को जल-पखान मात्र बतलाते हुए भी शालिग्राम की पूजा का विधान किया था। संभवतः यही प्रवृत्ति अंत में भगवानदास निरंजनी कृत 'कार्तिक माहात्म्य,' 'जैमिनि अश्वमेध' सदृश पौराणिक ढंग के ग्रन्थों में प्रतिफलित हुई।

निरंजन पंथ में प्रेम तथा योग-तत्व संभवतः रामानन्द या उन्हीं के सदृश किसी संत से आये हैं। ये प्रेम तथा योग-तत्व कबीर, रैदास और पीपा इत्यादि रामानन्द के प्रायः सब शिष्यों की बानियों में पाये जाते हैं, इसलिए इनका मूल स्रोत गुरु में ही ढूँढ़ना चाहिए। इस बात का समर्थन रामानंद कृत कहे जानेवाले 'ज्ञान-तिलक' और 'ज्ञान-लीला' नाम के छोटे ग्रंथों से तथा 'सिद्धांतपटल' से भी होता है, जिसके अनुसार, राघवानन्द ने रामानन्द को जो उपदेश दिये हैं उन में योग का निश्चय रूप से समावेश है।‡ महाराष्ट्री जनश्रुतियों में रामानन्द का सम्बन्ध ज्ञानदेव के नाथपंथी परिवार से जोड़ा जाता है। अपने को नाथपंथी बतलाने वाले उद्धव और नयन भी रामानन्द के शिष्य अनंतानन्द के द्वारा रामानन्द से अपनी परम्परा आरम्भ करते हैं।

नाभादास जी ने रामानन्द के बारहों शिष्यों को दशधा भक्ति का 'आगर'

---

*—"तुरसी वरणाश्रम सब काया लौं सो काया करम को रूप।
करम रहत जे जन भए, ते निज परम अनूप॥"
जन्म नीच कहिए नहीं, जो करम उत्तम होय।
तुरसी नीच करम करै, नीच कहावै सोय॥"—तुरसी।
"जनम बह्मन भए का भयो करत कुल चंडार।
बहुरि पिंड परै होयगा, सुद्र घरहु अवतार॥
हिंदू तुरक एक कल लाई। राम रहीम दोइ नहि भाई॥"—हरिदास।

†—फर्कुहर-आउटलाइन आव् दि रेलिजस लिटरेचर इन इंडिया, पृ० ३००।

‡—"शब्दसरूपी श्री गुरु राघवानंद जी ने श्री रामानंद जी कूँ सुनाया।
भरे भंडार काया बाढ़े त्रिकुटी स्थान जहाँ बसे—श्री सालिग्राम।"
—अमरबीज मंत्र १७।

कहा है। किंतु यदि तुरसीदास ने अपनी वाणी में स्पष्ट रीति से इसकी व्याख्या सी न की होती तो दशधा भक्ति से क्या अभिप्राय है, हम यह भी न समझ पाते। इस व्याख्या को संक्षेप में यहाँ पर दे देना अनुचित न होगा।

इस व्याख्या में तुरसीदास ने सगुणी नवधा भक्ति को अद्वैत दृष्टि के अनुकूल एक नवीन ही अर्थ दे दिया है। श्रवण* कीर्तन और स्मरण† तो निर्गुणपक्ष में भी सरलता से ग्रहण किये जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त तुरसी के अनुसार पाद-सेवन‡ हृदय-कमलस्थित ज्योति-स्वरूप ब्रह्म का ध्यान करना है; अर्चन+ समस्त ब्रह्मांड में ॐ का प्रतिरूप देखना है; वंदन× साधु गुरु और गोविन्द दोनों को एक समझ कर उनकी वंदना करना है; दास्य‡‡ भक्ति हरि, गुरु और साधु को निष्काम सेवा करना है; सख्य÷ भक्ति भगवान् से

---

*—"सार-सार मत स्रवन सुनि, सुनि रापै रिद माहिं।
ताही को सुनिवो सुफल, तुरसी तपति सिराहिं॥"

†—तुरसी ब्रह्म भावना यहै, नाँव कहावै सोय।
यह सुमिरन संतन कह्या, सार भूत संजोय॥"

‡—"तुरसी तेजपुंज के चरन वे हाड़ चाम के नाहिं।
वेद पुराननि वर्रनिए रिदा कँवल कै माहिं॥"

+—"तुरसी प्रतिमा देपि कै पूजत है सव कोय।
अदृसि ब्रह्म को पूजिवो कहो कौन विधि होय॥
तुरसिदास तिहूँ लोक मैं प्रितमा (प्रतिमा) ॐकार।
वाचक निर्गुन ब्रह्म को वेदनि वरन्यो सार॥"

×—"गुरु गोविंद संतनि विपै अभिन भाव उपजाय।
मंगल सूं वंदन करै तो पाप न रहई काय॥"

‡‡—"तुरसी वनै न दास कूँ आलस एक लगार।
हरि गुरु साधू सेव मैं लगा रहै एकतार॥
तुरसी निहकामी निज जनन की निहकामी होय सोय।
सेवा निति किया करै फल वासना जू पोय॥"

÷—"वरावरी को भाव न जानै, गुन औगुन ताको कछू न आनै।
अपनो मित जानिवो राम, ताहि समरपै अपना धाम॥
तुरसी त्रिभुवन नाथ को सुहृत सुभाव जु एह।
जेनि केनि ज्यूं भज्यो जिनि तैसें ही उधरे तेह॥"

बराबरी का अभिमान न होकर सब मार्गों से गोविन्द की प्राप्ति हो सकने के विश्वास के साथ भगवान् को मित्र समझने की भावना है और आत्मनिवेदन* दैन्य का भाव है। तुरसी का कथन है कि यह नौ प्रकार की भक्ति सगुण नवधा भक्ति से भिन्न है और जीव को प्रवृत्तिमार्ग की ओर न ले जाकर निवृत्ति-मार्ग की ओर ले जाती है।† इस नवधा भक्ति की सिद्धि होने पर उसके उपरान्त सर्वश्रेष्ठ प्रेमा-भक्ति‡ की प्राप्ति होती है, और इस प्रकार नाभादास जी की दसधा संज्ञा की सार्थकता प्रकट होती है।

जो थोड़ा सा समय मेरे लिये प्रयोजित था उसके भीतर अन्य बातों के साथ मैंने निरंजनी धारा की हिंदी साहित्य को क्या देन है, इसकी रूप-रेखा-मात्र दिखाने का प्रयत्न किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि ऐसे संतों के हृदय से निकली हुई सहज, निर्मल भावधारा से हिंदी साहित्य खूब संपन्न हुआ है, जिसके फलस्वरूप मध्ययुग में हिंदी एक प्रकार से उत्तर भारत की आध्यात्मिक आदान-प्रदान की भाषा बन गई। अतएव इन संतों के प्रति जितनी कृतज्ञता प्रकट की जाय, थोड़ी है।

खोज से नवीन सामग्री के प्रकाश में आने पर इस प्रकार की अन्य अंतर्धाराओं के दर्शन होंगे। अलग-अलग नये रचयिताओं का पता चलने से भी विभिन्न धाराओं की, और उनके द्वारा समस्त साहित्य की संपन्नता प्रकट होगी।

---

*—"तुरसी तन मन आतमा करहु समरपन राम।
जाकी ताहि दे उरन होहु छाड़िहु सकल सकाम ॥"

†—"एक नौधा निरवरति तन एक [illegible] तन जान।
तामें [illegible] रूपनी [illegible] कहहि [illegible] ॥"

‡—"तुरसी [illegible] साधन भगति [illegible] मोय।
तिन प्रेमा फल पाइया प्रेम मुदित फल जोय ॥"